हिमाचल प्रदेश

भारत—देश और लोग

हिमाचल प्रदेश

हरि कृष्ण मिट्टू

अनुवाद
नरेश 'नदीम'



नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

आवरण : किन्नर कैलाश
छायाचित्र : श्री राज कुमार आहलूवालिया के सौजन्य से

ISBN 81-237-1122-0

पहला संस्करण : 1994
पहली आवृत्ति : 2001 (*शक* 1923)

Himachal Pradesh *(Hindi)*
रु. 35.00
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क
नयी दिल्ली-110 016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

1

प्राकृतिक परिवेश

अभी हाल तक हिमाचल प्रदेश के बारे में लोगों को बहुत कम ज्ञान रहा है। साथ के मैदानी इलाकों में जारी समयचक्र हिमाचल को शायद ही छूता रहा हो। फलस्वरूप हिमाचल के लोगों की दुनिया पड़ोसी मैदानी इलाकों के लोगों की दुनिया से अलग रही है। विजेता आए और गए मगर उनका प्रभाव बहुत सीमित पड़ा। हिमाचल के मिथक और विश्वास अछूते रहे। हजारों वर्षों के अलगाव के कारण घुमावदार और धुंध से ढके इलाकों में आधुनिक विचारों और ज्ञान-विज्ञान का प्रवेश मुश्किल रहा है।

हिमाचल प्रदेश 55,673 वर्ग कि० मि० क्षेत्रफल में फैला है और उसकी जनसंख्या (सन् 1991 की जनगणना के अनुसार) 51,11,079 है। यह जम्मू-कश्मीर के दक्षिण, पंजाब के उत्तर-पूर्व, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के उत्तर-पश्चिम और तिब्बत के पश्चिम में स्थित है। यह इलाका पहाड़ी है और अपने जंगलों, नदियों, घाटियों, पहाड़ियों और दर्रों के प्राकृतिक सौंदर्य के लिए मशहूर है। ये सभी भौतिक संसाधनों की दृष्टि से भी उतने ही समृद्ध हैं जितने सांस्कृतिक और मानवीय जीवन मूल्यों की दृष्टि से। तिब्बत के साथ लगी अंतर्राष्ट्रीय सीमा पर स्थित होने के कारण इसका भारी रणनीतिक महत्व है।

यह राज्य समुद्रतल से 450 से लेकर 6,500 मीटर की ऊंचाइयों पर स्थित है। शिवालिक पर्वतश्रेणी इसे मैदानी इलाकों से अलग करती है। शिवालिक का शाब्दिक अर्थ है 'शिव की लटें', प्राचीन भूगोलवेत्ता इसे मैनाक पर्वत कहते थे।

राज्य की विभिन्न चोटियों पर हमेशा बनी रहनेवाली बर्फ की कतार इसकी सबसे स्पष्ट विशेषता है। धौलाधार पर्वत कांगड़ा की वादी को राजसी आन-बान-शान से देखता है। वहीं पीर पंजाल, उच्च हिमालयी और जस्कर श्रेणियां चंबा, लाहुल-स्पीति, कुल्लू और किन्नौर की रखवाली करती हैं। अनेक दंतकथाओं से महिमामंडित ये राजसी पर्वतश्रेणियां दूर से ही देखी जा सकती हैं। पहाड़ी ढालें जंगलों और चरागाहों से ढकी हुई हैं। नीचे की शांतिपूर्ण वादियों में यहां वहां टेढ़ी मेढ़ी धाराओं, हरे भरे मैदानों, इक्का-दुक्का घरों और कम आबादी वाले गांवों को देखा जा सकता है।

आमतौर से पश्चिम से पूर्व और दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ने पर ऊंचाई बढ़ती जाती है। दक्षिण से उत्तर की ओर बढ़ें तो तीन स्थलाकृतीय विभाजन इस

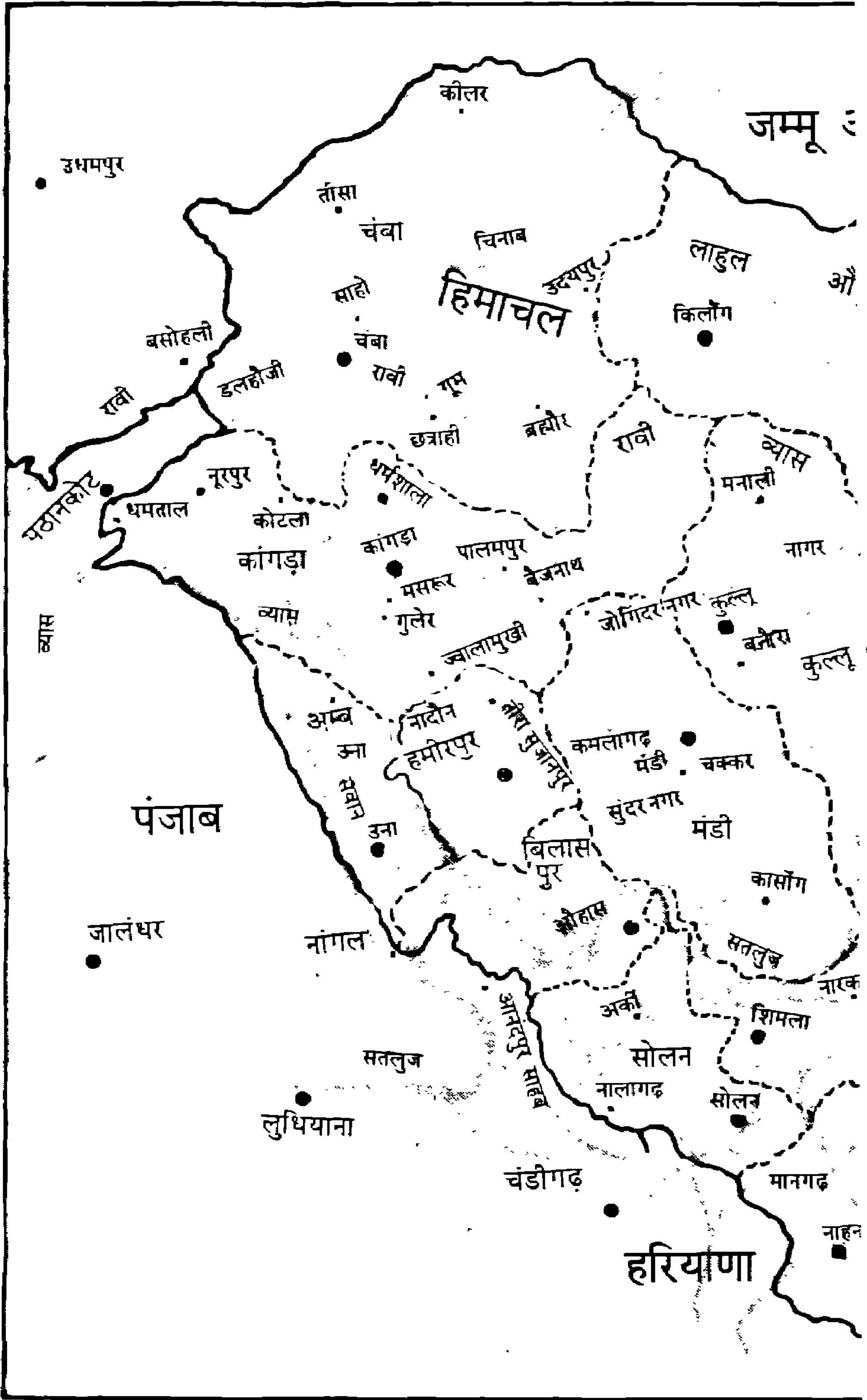
प्रकार हैं—बाहरी हिमालय या शिवालिक श्रेणी, निम्नवर्ती हिमालय या मध्य क्षेत्र और जस्कर या उत्तर प्रदेश।

शिवालिक में निचली पहाड़ियां आती हैं। (ये समुद्रतल के कोई 600 मीटर ऊपर हैं)। इन पहाड़ियों की चट्टानें बहुत ही कमजोर हैं जो बहुत आसानी से कटाव की शिकार हो जाती हैं। इसके नतीजे में जंगलों का नाश हुआ है और मिट्टी के कटाव की दर बहुत अधिक है। इसके कारण 'चोस' का निर्माण होता है जो बेकार पड़ा रहता है और नीचे मैदानों में रेत के बहुत बड़े बड़े भूखंड बनाता रहा है।

निम्नवर्ती हिमालय की विशेषता यह है कि धौलाधार और पीर पंजाल शृंखलाओं की तरफ बढ़ने पर ऊंचाई धीरे धीरे बढ़ती जाती है। शिमला की पहाड़ियों में यह ऊंचाई एकाएक बढ़ती है; इसी के दक्षिण में चूढ़-चांदनी की ऊंची चोटी (3,647 मीटर) है। सतलुज के उत्तर में ऊंचाई धीरे धीरे बढ़ती है। समानांतर पर्वतश्रेणियों की इन शृंखलाओं को अनुदैर्ध्य वादियां विभाजित करती हैं। इसका एकमात्र अपवाद कुल्लू की वादी है जो मुख्य श्रेणी के आड़े तिरछे स्थित है। मैदानी इलाकों के पास पर्वतों और वादियों की विशेषताएं थोड़ी बहुत सुस्पष्ट हैं। लेकिन अधिक ऊंचाई पर पर्वतश्रेणियां और वादियां आपस में गड्ड मड्ड हो जाती हैं और एक के बाद एक करके पर्वतश्रेणियां और वादियां आने लगती हैं जिनकी ऊंचाई लगातार बढ़ती जाती है।

कांगड़ा की वादी धौलाधार पर्वतश्रेणी की तलहटी में स्थित एक अनुदैर्घ्य नाद जैसी है। धौलाधार का अर्थ 'सफेद चोटी' है। यह बद्रीनाथ के पास ऊपरी हिमालय पर्वतश्रेणी से आरंभ होता है और क्षेत्र की सबसे स्पष्ट विशेषता है। रामपुर बुशहर के पास सतलुज, लार्जी के पास व्यास और चंबा के दक्षिण-पश्चिम में इसे रावी नदियां काटती हैं। धौलाधार का उत्तरी सिरा बाड़ा बंघाल की पर्वतग्रंथि पर पीर पंजाल श्रेणी के दक्षिणी सिरे से जुड़ा हुआ है। धौलाधार की औसत ऊंचाई लगभग 4,550 मीटर है। कांगड़ा की वादी के ऊपर यह श्रेणी एकाएक 3,600 मीटर की ऊंचाई तक उठती है और उसके भूदृश्य पर पूरी तरह हावी हो जाती है। धौलाधार श्रेणी के दक्षिण की तरफ एक पुराना हिमोढ़ उपवन (मोरेन) 1,200 मीटर जितनी कम ऊंचाई पर पाया जाता है। दूसरी ओर यह विश्वास भी किया जाता है कि कांगड़ा के कुछेक भागों में हिमनद 950 मीटर की ऊंचाई तक उतर आए हैं। कांगड़ा, मंडी और कुल्लू के पास अनेकों नदी-वेदिकाएं भी देखी जाती हैं।

पीर पंजाल श्रेणी निम्नवर्ती हिमालय श्रेणी में सबसे बड़ी है। यह सतलुज के तट के पास ऊपर हिमालय पर्वतश्रेणी को दो भागों में बांटती है। इस तरह जल विभाजक का काम करती है जिसके एक ओर चिनाब तथा दूसरी ओर व्यास और रावी नदियां बहती हैं। रावी के निकलने के स्थान के पास यह धौलाधार श्रेणी की ओर मुड़ जाती है। पीर पंजाल में लाहुल के दक्षिण में अनेक हिमनद पाए जाते हैं।



भारत के महासर्वेक्षक की अनुज्ञानुसार भारतीय सर्वेक्षण विभाग के मानचित्र पर आधारित

मानचित्रों के आंतरिक विवरणों को सही दर्शाने का दायित्व प्रकाशक का है।



हिमाचल प्रदेश का मानचित्र

यहां खासा बड़ा क्षेत्र हिमरेखा से ऊपर स्थित है। रोहतांग दर्रा (4,880 मीटर) और अनेक दूसरे दर्रे इसे आरपार काटते हैं। इनमें से अधिकांश दर्रे बर्फ से ढके रहते हैं और दिसंबर से अप्रैल के बीच इनको पार नहीं किया जा सकता।

ऊपरी हिमालय पर्वतश्रेणी (5,000-6,000 मीटर) पूर्वी सीमा के साथ साथ फैली हुई है जिसे सतलुज नदी काटती है। यह श्रेणी स्पीति के जलनिकास को व्यास के रास्ते से अलग करती है। कांगड़ा (5,248 मीटर), बड़ा लाचा (4,512 मीटर), परांग (5,548 मीटर) और पीन पर्वती (4,802 मीटर) इस श्रेणी के कुछ प्रसिद्ध दर्रे हैं।

जस्कर श्रेणी सबसे पूरब में स्थित है और किन्नौर और स्पीति को तिब्बत से अलग करती है। इसमें 6,500 मीटर जितनी ऊंची चोटियां भी हैं। इनमें शिल्ला (7,026 मीटर) और रीवो फार्ग्युल (6,791 मीटर) सबसे ऊंची चोटियां हैं। सतलुज नदी इस पर्वतश्रेणी को काटती है। जस्कर और ऊपरी हिमालय श्रेणी में अनेक हिमनद पाए जाते हैं। हिमनद को स्थानीय भाषा में 'शिगड़ी' कहते हैं। शायद यह शब्द विशाल शिगड़ी हिमनद से निकला है जिसने किसी समय भयानक तबाही मचाई थी।

हिमाचल को इसका अनन्य श्रेय है कि यह सिंधु और गंगा, दोनों के दोआबों को पानी देता है। इस क्षेत्र के प्रमुख नदसमूह चंद्रभागा (चिनाब), रावी, व्यास, सतलुज और यमुना हैं। ये स्थायी रूप से भरी रहने वाली नदियां बर्फ और वर्षा से जल पाती हैं और प्राकृतिक हरियाली का एक खासा लंबा चौड़ा छावन इनकी रक्षा करता है।

चंद्रभागा (वैदिक नाम, अस्कनी) जल की मात्रा की दृष्टि से सबसे बड़ी नदी है। यह लाहुल में टुंडी के पास चंद्र और भागा नामक दो धाराओं के संगम से बनती है। चिनाब या चंद्रभागा हिमाचल में कोई 122 कि॰मी॰ बहकर कश्मीर में प्रवेश करती है। 1,200 कि॰मी॰ लंबी चिनाब नदी का जलग्रहण क्षेत्र 61,000 वर्ग कि॰मी॰ का है जिसमें कोई 7,500 वर्ग कि॰मी॰ हिमाचल में स्थित है। चंद्रा बंजर भागों से होती हुई बहती है जहां स्वाभाविक है जीवन के कोई संकेत नहीं मिलते। इसके तट पर कोई गांव नहीं है और अंतहीन एकरस पहाड़ियों के अलावा देखने को कुछ भी नहीं है। चंद्रा की धारा अपने तटों के बीच दहाड़ती हुई बहती है और इन पहाड़ियों से टकराती चलती है। चिनाब की वादी की सरंचना एक द्रोणी की है जो ऊपर हिमालय और पीर पंजाल श्रेणियों से बनती है।

रावी नदी (वैदिक नाम, परुष्णी और परवर्ती संस्कृत में इरावती) कांगड़ा जिले में बाड़ा बंघाल के पास हिमनदों से निकलने वाली भाडल और तंतगरी धाराओं के मिलने से बनती है। यह एक गहरे खड्ड में गिरकर इस क्षेत्र से बाहर आती है। हिमाचल में इस नदी की लंबाई कोई 158 कि॰मी॰ है और उसका जलग्रहण क्षेत्र कोई 5,451 वर्ग कि॰मी॰ का है। चंबा इसके दाहिने किनारे पर स्थित है।

व्यास नदी (वैदिक नाम अर्जिकीय और परवर्ती संस्कृत में विपाशा) पीर पंजाल श्रेणी में रोहतांग दर्रे के पास निकलती है और हिमाचल में लगभग 356 कि॰मी॰ दूरी तय करके मिर्ठल के मैदानों में आती है। इस नदी में अनेक सहायक नदियां आकर मिलती हैं जिनमें पर्वती, हुरला, सैंज, उह्ल, सुकेटी, लूनी, बाणगंगा और चाकी प्रमुख हैं। व्यास की उत्तरी और पूर्वी सहायक नदियों को बर्फ का पानी मिलता है और ये साल भर बहती रहती हैं। दूसरी ओर दक्षिण की सहायक नदियां मौसमी हैं। अगस्त में इसका बहाव बहुत तेज हो जाता है जिससे कभी कभी बाढ़ भी आ जाती है।

सतलुज (वैदिक नाम सतुद्री और परवर्ती संस्कृत में शताद्रु) दूरस्थ तिब्बत में निकलती है। यह सिंधु के समानांतर कोई 400 कि॰मी॰ तक बहने के बाद ऊपरी हिमालय और जस्कर, दोनों श्रेणियों को काटती है। शिपकिला के पास यह भारत-तिब्बत सीमा को पार करती है। फिर इसमें उत्तर से स्पीति नदी आकर मिल जाती है। गहरे खड्डों और तंग वादियों से गुजरते हुए यह नदी भाकड़ा में पहाड़ों से बाहर आती है। हिमाचल में सतलुज का जलग्रहण क्षेत्र 20,000 वर्ग कि॰मी॰ का है।

यमुना उत्तरकाशी (उत्तर प्रदेश) में यमुनोत्री से निकलती है। हिमाचल में इसका कुल जलग्रहण श्रेत्र 2,320 कि॰मी॰ का है। टौंस, गिरी और बाट इसकी प्रमुख सहायक नदियां हैं। यह तेजवाल बंध के पास हिमाचल से निकलकर हरियाणा में प्रवेश करती है।

ऊंचाई (450-6,500 मीटर) तथा स्थलाकृति के अंतर के कारण हिमाचल प्रदेश में जलवायु की दशाओं में भारी अंतर पाए जाते हैं। दक्षिण के निचले भागों (450-900 मीटर) में गर्म और कम आर्द्र उष्णकटिबंधीय दशाएं, हलकी गर्म और शीतोष्ण (900-1,800 मीटर), ठंडी और शीतोष्ण (1,900-2,400 मीटर) तथा उत्तर और पूर्व की ऊंची पर्वतश्रेणियों में कड़कड़ाती और हिमानी (2,400-4,800 मीटर) दशाएं पायी जाती हैं। लाहुल-स्पीति और किन्नौर की जलवायु अर्धशुष्क पटारी प्रकार की है।

यहां वर्ष में तीन मौसम होते हैं—जाड़ा (अक्तूबर से फरवरी), गर्मी (मार्च से जून) और वर्षा (जुलाई से सितंबर)। अक्तूबर तक आसमान साफ हो जाता है और सुबह या शाम को हलकी ठंड पड़ती है। आर्द्रता कम रहती है। रातें और सुबहें बहुत ठंडी होती हैं, खासकर वादियों में। दिसंबर और जनवरी में ऊंचाई वाले क्षेत्रों में आमतौर पर बर्फ गिरती है हालांकि कभी कभी इस अवधि से पहले या बाद में भी बर्फबारी हो सकती है। कोई 3,000 मीटर की ऊंचाइयों पर औसतन तीन मीटर बर्फबारी होती है और दिसंबर से मार्च तक चलती है। 4,500 मीटर से अधिक ऊंचाइयों पर हमेशा ही बर्फ ढकी रहती है। मौसम के चक्र का अनुसरण करनेवाले गद्दी और अर्ध-घुमंतू चरवाहे ऊंचे पहाड़ों से उतरकर वादियों में चले आते हैं।

फरवरी के अंत तक जाड़े की भयानकता आमतौर पर खत्म हो जाती है। तापमान धीरे धीरे बढ़ने लगता है। वसंत मध्य फरवरी से मध्य मार्च तक बहुत थोड़े समय रहता है मगर अत्यंत आनंददायी होता है। हवा ठंडी और ताजी होती है। तरह तरह के फूल वादियों, पहाड़ी ढलवानों और चरागाहों को सजा देते हैं। इसके बाद मैदानों से लगे इलाकों में मौसम गर्म और धूल से भरा हुआ हो जाता है। लेकिन ऊंचाइयों पर मौसम खुशगवार और आरामदेह रहता है। अधिकांश हिल स्टेशन इन्हीं भागों में स्थित हैं।

जून के अंत या जुलाई के आरंभ में मानसून आ जाता है। बारिश के बाद पूरा इलाका हरा भरा और तरोताजा हो जाता है। धाराओं में पानी चढ़ने लगता है और झरने फिर से बहने लगते हैं। जुलाई और अगस्त सबसे अधिक वर्षा वाले महीने होते हैं, इसमें मिट्टी के कटाव, बाढ़ और भूस्खलन से भारी नुकसान होते हैं। सितंबर के अंत तक वर्षा की मात्रा कम हो जाती है। स्फूर्तिदायक और मनभावन शरद शुरू हो जाता है।

मानसून और उसके पहले के दिनों में हिमाचल में पड़ोसी मैदानों की अपेक्षा आमतौर पर अधिक आर्द्रता पाई जाती है। सितंबर के बाद इसमें कमी आती है और अप्रैल तक कमी जारी रहती है। कुल्लू के आगे लाहुल-स्पीति और किन्नौर की तरह वृष्टिछाया प्रभाव के कारण वर्षा की मात्रा कम हो जाती है। शुष्कतम क्षेत्र स्पीति (50 मि०मी० से कम वर्षा) है जो चारों तरफ ऊंचे पहाड़ों से घिरा हुआ है! सबसे अधिक वर्षा धर्मशाला (3,400 मि०मी०) में होती है। शिमला और नूरपुर 1,500-2,000 मि०मी० वर्षा वाले क्षेत्र में आते हैं जबकि धर्मशाला, कांगड़ा, पालमपुर और जोगिंदरनगर 2,000 मि०मी० से अधिक वर्षा वाले क्षेत्र में आते हैं। मंडी, रामपुर, कुल्लू, कल्पा और केलांग की ओर बढ़ने पर वर्षा क्रमिक ढंग से कम होने लगती है। लाहुल और स्पीति के अधिकांश भागों में 500 मि०मी० से भी कम वर्षा होती है।

ऊंचाइयों और जलवायु की दशाओं के भारी अंतर के कारण हिमाचल में तरह तरह की वनस्पति पाई जाती है। यहां हिमालयी चरागाहों और अधिक ऊंचे पहाड़ों पर उगनेवाले भोज और बुरुंश वृक्षों से लेकर उष्णकटिबंधीय झाड़ियों और निचली तराइयों के बांसों के जंगल तक अनेक प्रकार की वनस्पतियां पाई जाती हैं। लगभग 38 प्रतिशत क्षेत्र जंगलों से ढका हुआ है। लेकिन उनका वितरण एक समान नहीं है और ये ज्यादातर ऊंचे पहाड़ों और अंदरूनी वादियों तक सीमित हैं। निचले और अधिक सुगम्य क्षेत्रों में खेती और आबादी की संभावनाएं पैदा करने के लिए जंगल साफ कर दिए गए हैं। अधिकांश जंगल सरकार की संपत्ति हैं और उनके क्षेत्रफल को पूरे राज्य के 50 प्रतिशत भाग तक बढ़ाने के प्रयास किए जा रहे हैं।

स्थलाकृति, ऊंचाई और जलवायु के अनुसार हिमाचल में मिट्टी भी कई प्रकार की है। मिट्टी की परत कुल मिलाकर पतली है। मोटी परतें वादियों में या पहाड़ों के ढलवानों पर पाई जाती हैं।

राज्य में जलवायु के अंतर के कारण यहां वन्य जीवन में विविधता पायी जाती है। परजीवी पशुओं में चीते या तेंदुए, लकड़बग्घे, जंगली बकरे, गीदड़, जंगली कुत्ते, पीले जंगली बिल्ले, लोमड़, भेड़िये और पहाड़ी चूहे शामिल हैं। सांभर, चीतल, मुंजक, हिरन, चौसिंघे, घुरल और पाढ़े दूसरे पाए जाने वाले पशु हैं। चीतल शाल के जंगलों, चौसिंघे घास के खुले मैदानों और सांभर निचली पहाड़ियों को पसंद करते हैं। घुरल खड्डों में पाए जाते हैं तथा मुंजक हिरन गर्मियों में ऊंचे पहाड़ों पर स्थित जंगलों और जाड़ों में निचली पहाड़ियों में रहते हैं। कस्तूरी मृग अधिक ऊंचाइयों पर पाया जाता है। पहले ढेरों हाथी और बाघ पाए जाते थे लेकिन अब ये लगभग समाप्त हो चुके हैं। निचली पहाड़ियों में खरगोश, जंगली परिंदे, छोटी चिड़ियां, तीतर और बटेर बड़ी तादाद में पाए जाते हैं। काली चेड़ निचले ढलानों पर और मोनल ऊंचे बर्फीले इलाकों में पाए जाते हैं।

पहाड़ों में घर, गांव, परिवार और समुदाय की धारणाएं मैदानों से भिन्न होती हैं। यहां घर का मतलब एक-दो कमरों का छोटा सा रिहाइशी ढांचा होता है जिसमें मानव और पशु साथ साथ रहते हैं। गांव का मतलब पहाड़ी के किसी किनारे पर दो-चार टोले हैं जिसके इर्दगिर्द छोटे सीढ़ीदार खेत होते हैं। परिवार एक सुगठित इकाई होता है जो बिना किसी श्रम विभाजन के अपना काम करता है। लेकिन संचार साधनों के प्रसार और नियोजित विकास के आरंभ के कारण वस्तुओं और दृष्टिकोणों में परिवर्तन हो रहे हैं।

अधिकांश जनता कोई 16,807 देहाती बस्तियों में रहती है जिनके आकार अलग अलग पड़े टोलों से लेकर मिली जुली आबादियों तक बदलते रहते हैं। प्रतिग्राम औसत आबादी लगभग 257 है—शिमला जिले में 57 से लेकर कांगड़ा जिले में 1,457 तक। कांगड़ा की बड़ी बड़ी वादियां बड़ी आबादियों के लिए अनुकूल हैं जबकि शिमला के पहाड़ी इलाके उनके आकार को सीमित करते हैं। लाहुल-स्पीति और किन्नौर के ऊंचे और खुश्क इलाकों में बस्तियां कुछेक अनुकूल स्थलों पर पायी जाती हैं। यहां गांवों की औसत आबादी 500 से 1,000 तक है।

ग्रामीण बस्तियां कम फैली या टोलों के प्रकार की, फैली या बिखरे प्रकार की और अलग थलग घरों के/प्रकार की हैं। भूमि के सघन प्रयोग, पानी के सामूहिक प्रबंध और एक साझे कृषिचक्र के कारण छोटे टोलों या कम फैली किस्म की बस्तियों की वृद्धि हुई है। जहां मिट्टी के विच्छेदन के कारण खेतिहर जमीन टुकड़ों में बंट गई है वहां फैली या बिखरी हुई बस्तियों का विकास हुआ है। यहां खेत छोटे

और बिखरे हुए हैं और किसान आमतौर पर खेतों में बने मकानों में रहते हैं ताकि जमीन की बेहतर देखभाल कर सकें और जंगली जानवरों से अपनी फसलों की रक्षा कर सकें।

गांवों का परिवेश बहुत मनमोहक है। ये वादियों में, पहाड़ी ढलानों पर या टीलों की चोटियों पर स्थित हैं जहां तेज हवाओं या जमीन के खिसकने का डर नहीं होता और पानी का कोई स्रोत पास होता है। पहाड़ी रास्तों और धर्मकेंद्रों का भी ख्याल रखा जाता है। ग्रामीण मकान सादे किस्म के ढांचे होते हैं जो अक्सर बिना किसी योजना के जुड़े हुए होते हैं। इसकी व्यवस्था उस भूमि की प्रकृति पर निर्भर होती है जिस पर वे खड़े होते हैं। ये किसान, उसके परिवार, मवेशियों और पालतू जानवरों को पनाह देने तथा अनाज और खेती के औजार रखने के लिए बनाए जाते हैं। मकान अक्सर स्थानीय सामग्री से बनाये जाते हैं। वादियों में ग्रामीण मकान पेड़ों के किसी झुरमुट में पास पास होते हैं जहां पास से ही कोई पानी की धारा बहती रहती है।

हिमाचल में केवल 49 शहर और कस्बे पाए जाते हैं। ये ज्यादातर छोटे छोटे हैं जहां नगरीय स्थानीय निकाय पाए जाते हैं। सबसे छोटा कस्बा नैनादेवी है जिसकी आबादी लगभग 618 है। सबसे बड़ा नगर शिमला है जिसकी जनसंख्या लगभग 89,798 है। नगरीय जनसंख्या कुल जनसंख्या की लगभग 7.5 प्रतिशत है। अधिकांश नगर या कस्बे जिलों और तहसीलों के मुख्यालय हैं। इनमें कुछ छावनियां हैं जबकि दूसरे या तो पर्यटनस्थल या तीर्थस्थल हैं। जहां औद्योगिक क्षेत्रों का विकास हुआ है वहां नये नगर भी बस रहे हैं।

2

प्रदेश की जनता

हिमाचल में बीसियों प्रजातियों, समुदायों और संस्कृतियों का समन्वय हुआ है। कोली, हाली, डोम, डागी और धौगी मूल निवासियों के वंशज हैं जबकि खसों के वंशज खासिया और कनेत राजपूत (महाभारत के कुनिंदे) हैं। ब्राह्मण, खत्री, राजपूत, ठाकुर, राठी, रावत, चौहान, परमार, घीरट, गद्दी, महाजन और दूसरी बहुत सी जातियां आर्यों और हिंद आर्यों के वंशज हैं। साइथियों के वंशज गुज्जर और कुछ जाट परिवार हैं जो निचली शिवालिक श्रेणियों में रहते हैं। राज्य के हिमालयपारी क्षेत्रों के निवासी स्पीती, लाहुली, किन्नौरी, भोट और जाड लोग मंगोल और तिब्बती नस्लों के वंशज हैं। यहां के कुछ क्षेत्रों से गुजरनेवाले शकों, कुषाणों और हूणों के वंशजों का अब पता नहीं चलता। यही नागों, किरातों और यक्षों के साथ है हालांकि राज्य के अनेक भागों में आज भी नागपूजा, किरात अनुष्ठान और यक्षिणी सिद्धि प्रचलित हैं।

हिमाचल को सही अर्थों में संस्कृतियों की मिलनस्थली कहा जा सकता है और यहां संस्कृतियों का उत्थान पतन और समन्वय एक रोचक कहानी है। लेकिन यहां तमाम किस्मों की संस्कृतियों और समाजों का सहअस्तित्व जारी रहा है। यह सहअस्तित्व आवश्यकता पर आधारित है। नयी और प्रभुत्व स्थापित करनेवाली संस्थाओं ने अपनी खुद की विचारधाराओं का ऊपरी ढांचा कायम रखते हुए भी देसी सामाजिक संस्थाओं और प्रणालियों को अपनाया है। इसके कारण यहां प्रचलित विश्वासों और तीज त्यौहारों को एक धार्मिक आधार प्राप्त हुआ है और मिथकों के कोष में नये मिथक जुड़े हैं। इन पहाड़ों में समाज की बुनियादी संरचना संभवतः आर्यों के हमले और खसों के कब्जे से पहले ही विकसित हो चुकी थी। यही आरंभिक आधार था जिस पर आर्य, खस और हिंद आर्य विचारधाराओं के ऊपरी ढांचे विकसित हुए। इसी प्रकार हिमालयपारी क्षेत्र में लामावाद और उसकी सारी पिशाच विद्या के विकास में प्राचीन जीववाद और बौद्ध धर्म के विरोधी मगर श्रमणवादी बोन धर्म का योगदान रहा है।

अधिकांश आबादी (सन् 1981 की जनगणना के अनुसार 95.77 प्रतिशत) हिंदू है। मुसलमानों का स्थान दूसरा और उनका भाग 1.63 प्रतिशत है। चंबा, कांगड़ा और सिरमौर में उनकी कुछ बस्तियां पायी जाती हैं। बौद्धों की आबादी एक प्रतिशत

से थोड़ी सी अधिक है और वे लाहुल और स्पीति, किन्नौर और कुल्लू के हिमालयपारी क्षेत्रों में रहते हैं। सिख (1.2 प्रतिशत) यहां वहां बिखरे पड़े हैं और कांगड़ा, शिमला, मंडी और सिरमौर जिलों में उनकी कुछ बस्तियां हैं। ईसाई आबादी 0.1 प्रतिशत है।

लोग अत्यंत धर्मप्राण और ईश्वरभीरू हैं लेकिन उनका हिंदुत्व मैदानों के हिंदुत्व से भिन्न है। लगता है कि प्राकृतिक विशेषताओं की आन बान, हिमालय और मानव के खिलाफ खड़ी भौतिक शक्तियों की तीव्रता के कारण यहां के निवासियों ने प्राकृतिक वातावरण पर पराप्राकृतिक शक्तियों का आरोपण किया है जिनमें कुछ कृपालु हैं तो अधिकांश उत्पीड़क हैं। पहाड़ी बच्चों के लिए तो 'हिमालय ईश्वर है।' अधिकांशतः शहरों और कस्बों के ठाकुरद्वारों और शिवालों में विराजमान प्रमुख देवगण के अलावा लोग क्षुद्र देवताओं या ग्रामदेवताओं, ऋषि मुनियों, सिद्धों, पांडवों, पर्वतशिखरों, वृक्षों, योगिनियों या जंगल की परियों, काली, शक्ति, नागों, यहां तक कि मूल निवासियों के अनेक पिशाचों और देवताओं की भी पूजा करते हैं। पानी के बहाव, पौधों के अंकुर, फसलों की पकती हुई बालियां, ये सभी अलग अलग आत्माओं के वश में होती हैं जिनको तुष्ट किया जाता है। पशुबलि एक महत्वपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान है जिसे विवाह, क्रियाकर्म, त्यौहारों पर, फसल कटने के समय, हल चलाने के आरंभ में या धन्यवाद ज्ञापन के अवसरों पर संपन्न किया जाता है।

लामावादी बौद्ध धर्म हिमालयपारी क्षेत्रों में प्रचलित है। कहते हैं कि आठवीं सदी में तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार करनेवाले महान पद्मसंभव कुछ समय तक मंडी के पास रिवालसर में रहे। यहां उनका एक मंदिर है जहां हिमालयी क्षेत्र ही नहीं बल्कि तिब्बत और भूटान के बौद्ध भी दर्शनार्थ आते हैं। लामावादी बौद्ध धर्म उत्तरी बौद्ध संप्रदाय वज्रयान के रहस्यवाद, तंत्रविद्या के जादू, पिशाच-पूजा और शक्ति तारा के संप्रदाय का समन्वय है। पुजारी या लामा इन बौद्धों का मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक होता है जो ज्यादातर सीमावर्ती क्षेत्रों में रहते हैं। वह आध्यात्मिक विषयों में उनका मार्गदर्शन करता है, घटनाओं की भविष्यवाणी करता है, शुभ और अशुभ दिनों का विवेक करता है, औषधि विज्ञान का प्रयोग करता है, दुष्ट आत्माओं से मुक्ति दिलाता है, जादू संपन्न करता है और जीवित या मृत लोगों के भवितव्य को निर्धारित करता है।

ग्रामीण मुसलमान पीर लखदाता का अनुसरण करते हैं। वे दूसरे संतों के मजारों पर भी इबादत करते और दिए जलाते हैं।

हिंदी राज्य की भाषा है। लेकिन लोग आपसी बोलचाल में ज्यादातर पहाड़ी का प्रयोग करते हैं जिसकी डा. वाई.एस. परमार के अनुसार अनेक बोलियां या 'उपभाषाएं' हैं। अपने भाषाई सर्वेक्षण में ग्रियर्सन ने इसे 'पश्चिमी पहाड़ी' कहा है और उत्तर प्रदेश के पहाड़ों में (देहरादून के पास) स्थित जौंसार भाबर से लेकर जम्मू कश्मीर स्थित भदरवाह तक इसका इलाका बतलाया है। अन्य बातों के अलावा

अपनी अलग भाषा और संस्कृति के आधार पर ही हिमाचल और पंजाब के पहाड़ी लोगों ने अपने एकीकरण की मांग की और अंततः उसे सन् 1966 में प्राप्त भी कर लिया।

मंडियाली (मंडी में), कुलवी (कुल्लू में), केहलूरी (बिलासपुर में), हिंदूरी (नालागढ़ में), चमियाली (चंबा में), सिरमौरी (सिरमौर में), मियहसवी (महसू क्षेत्र में) और पांगवली (पांगी में) इस क्षेत्र में बोली जानेवाली, पहाड़ी की विभिन्न बोलियां हैं। इसके अलावा भोट मूल की कुछ बोलियां जैसे किन्नौरी, लाहौली और स्पीती भी हैं। पहाड़ी की सभी बोलियां संस्कृत मूल की हैं। विभिन्न कालों में उनको विभिन्न ढंगों से लिखा जाता रहा है। पहले उनको टांकड़ी या ठाकरी में लिखा जाता था लेकिन आगे चलकर मुस्लिम काल में उनको फारसी लिपि में लिखा जाने लगा। और भी बाद में उनको देवनागरी में लिखा जाने लगा।

प्रदेश में राजपूतों का बहुमत है। वे अप्रवासी राजपूतों के वंशज हैं जिनको या तो मुस्लिम हमलावरों ने पहाड़ों की ओर खदेड़ दिया था या जो यहां छोटे छोटे रजवाड़े और 'ठकुराई' कायम करने के लिए आये। खासिया (खसों के वंशज) नामक आरंभिक निवासियों ने राजपूतों से हार खाने के बाद उनमें शामिल होने का फैसला किया और विजेताओं की कुछ उपजातियों को अपना लिया। लेकिन शासक और शासित के सामाजिक संबंधों में कुछ दूरी हमेशा बनी रही है। राजपूत ज्यादातर भूस्वामी लोग हैं और खेती करते हैं। वे अच्छे सैनिक भी हैं और आबादी के अनुपात में देखें तो भारतीय सेना में हिमाचल का शायद सबसे अधिक योगदान रहा है।

ब्राह्मणों, जो राजपूतों के पुरोहित होते थे, का दूसरा सबसे बड़ा समूह है। निचली पहाड़ियों में उनका प्रभाव ऊंची पहाड़ियों से कहीं अधिक है जहां विवाह तक वैदिक परंपरा से नहीं, स्थानीय रीति रिवाजों के अनुसार होते हैं।

इसके बाद घीरटों की बारी आती है। कुछ लोगों के अनुसार ये लोग किरातों के वंशज हैं जिनको आर्यों ने पराजित किया था। लेकिन नृजातीय साक्ष्यों के अनुसार ये हिंद आर्य मूल के लोग हैं।

महाजन और सूद व्यापारी जातियां हैं। ये लोग पूरे प्रदेश में बिखरे हुए हैं। ये संख्या में बहुत अल्प हैं मगर अपनी उद्यमशीलता के कारण भारी प्रभाव रखते हैं। तिब्बत की सीमा तक भी लगभग हर गांव में उनकी एक दूकान मौजूद है। ये परंपरागत रूप से राज्य के उत्पादों के प्रमुख निर्यातक और यहां की जनता की आवश्यक वस्तुओं के आयातक रहे हैं। अब सहकारी संस्थाएं और निगम उनकी भूमिका को अधिकाधिक संभालते जा रहे हैं।

किन्नर या किन्नौरी, लाहुली, स्पीति, पांगवाल, गद्दी और गुज्जर आदिवासी लोग हैं।

किन्नर या किन्नौरी सीमावर्ती जिले किन्नौर में रहते हैं। ये पशुपालक कबीले हैं। भेड़ें और बकरियां पालना और ऊन निकालना उनका खास धंधा है। कुछ खेती और बागवानी में भी लगे हैं। वे संयुक्त परिवारों में रहते हैं तथा बहुपत्नी और बहुपति, दोनों प्रकार की विवाह प्रथाओं का पालन करते हैं। लेकिन बदलती सामाजिक आर्थिक दशाओं में ये प्रथाएं अब छोड़ी जा रही हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वे महाभारत में वर्णित किन्नरों के वंशज हैं। लेकिन कुछ अन्य लोग उनको किरातों के अवशेष मानते हैं जिनको पहले तो आर्यों ने हराया और फिर खसों ने दूरस्थ हिमालयपारी क्षेत्रों की ओर खदेड़ दिया। उनकी मंगोलाभ (मंडोलायड) विशेषताएं सीमाओं पर नस्लों के आपसी मिलन के प्रमाण हैं। किन्नर औरतें सुंदर, विनम्र और घरेलू होती हैं। वे अपना ज्यादातर वक्त खेतों में गुजारती हैं। जिस किन्नर लड़की को उपयुक्त वर नहीं मिलता वह जोमो (बौद्ध भिक्षुणी) बन जाती है। मर्द लंबे चोंगे (चुमा) और ऊनी पाजामे (चमू सूथन) पहनते हैं और औरतें धोरू (एक तरह की ऊनी साड़ी) पहनती हैं। उनके जूते ऊन और बकरी के बालों के बने होते हैं। ये लोग बुशहरी टोपियां पहनते हैं। ये मांसप्रेमी होते हैं और घर की खिंची 'अंगूरी' नामक शराब पीते हैं।

लाहुली लोग लाहुल में रहते हैं और उद्यमी होते हैं। अनंत काल से वे खेती के अलावा व्यापार भी करते आए हैं। अपने उतार चढ़ाव से भरे इतिहास में उन्होंने अनेक जातियों, खासकर आर्यों और मंगोलों को अपना स्वामी स्वीकारा है। उनकी वादियां तिब्बत, सिनकियांग और उसके आगे तक के परंपरागत व्यापारिक मार्गों पर पड़ती हैं। भारत इन्हीं रास्तों से मध्य एशिया से ऊन, बोरेक्स पाउडर, और कीमती मालों का आयात करता था। लाहुली लोग मैदानों का गेहूं और अपना जौ तिब्बत ले जाते थे। अब जबकि तिब्बत का रास्ता बंद हो चुका है, वे 'कुठ' (दवाओं में प्रयुक्त एक बूटी) को विदेशों में निर्यात के लिए कलकत्ता भेजते हैं। लाहुली लोग ऊंचे और निचले वर्गों में बंटे हुए हैं। ये अंतर्विवाही और बहुपति प्रथा के अनुगामी होते हैं। तलाक को मान्यता प्राप्त है और ये आसान होता है। ये रंगारंग लोग हैं और उनकी स्त्रियां गहनों से अपने वस्त्रों को सजाती हैं।

स्पीति लोग लाहुली लोगों से मिलते जुलते हैं। अंतर केवल इतना है कि उनके पुरुषों को मठों में सेवा करनी होती है जिसका कारण उनकी विशिष्ट सामाजिक आर्थिक दशाएं हैं। उनके पास जमीन कम है और सिंचाई की सुविधाएं नहीं हैं। इसलिए उनके पास देने के लिए कोई वस्तु नहीं है और इस कारण ये व्यापारी लोग नहीं हैं। खुले मौसम के कुछ महीनों को छोड़कर खुश्क पहाड़ियों के ये निवासी अपने इलाकों तक सीमित रहते हैं। समदोह को काज़ा से जोड़नेवाली नयी सड़क और पिछले कुछ बरसों में उत्थापक सिंचाई की सुविधाओं के विकास के कारण इन हट्टे कट्टे और अत्यंत धर्मप्राण लोगों का जीवन बहुत कुछ सुधरा है।

पांगवाल एक जातिवाचक संज्ञा है जिसका अभिप्राय पांगी के लोगों से है। यह चंबा जिले में स्थित एक वादी है जहां साच दर्रे (लगभग 4,800 मीटर) को पार करके ही जाया जा सकता है। ये लोग ऊंची और नीची जातियों में विभाजित हैं। वे यहां उपलब्ध केवल छोटी छोटी जमीनों पर ही खेती करते हैं। अनाजों की कमी के कारण वे अनाज को भूसे सहित खाते हैं। ये एकविवाही प्रथा का पालन करते हैं लेकिन तलाक आसान होता है। ये अपने आकर्षक चेहरों, सुंदर शरीर और नृत्य गीत के प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं।

गद्दी लोग पंजाब के उन खत्रियों के वंशज हैं जो मुस्लिम शासकों के उत्पीड़न के कारण ऊंचे पहाड़ों में आकर बस गए। ये अर्ध घुमक्कड़, अर्ध पशुपालक और अर्ध कृषक आदिवासी हैं। वे आधा साल अपने गांवों में रहकर खेती करते हैं और आधा साल अपने पशुओं के लिए घास और चारे की तलाश में बाहर बिताते हैं। ये सरल और छल-कपट से रहित लोग हैं और संयुक्त परिवारों में रहते हैं। उनके कठोर नैतिक नियम होते हैं। उनकी स्त्रियां विनम्र और पतिव्रता होती हैं। उनके लिए घुमक्कड़ी से बचने का कोई रास्ता नहीं होता क्योंकि जाड़ा उनकी भेड़ बकरियों के लिए अच्छा नहीं होता और चारे की कमी भी होती है।

गुज्जर अधिकतर पशुपालक हैं और पूरी तरह घुमक्कड़ जीवन बिताते हैं। वे अपनी भैंसों और गायों के लिए चारे की तलाश में पूरे साल घूमते रहते हैं। वे संयुक्त परिवारों में रहते हैं तथा एकविवाह और पितृवंशात्मक प्रथा का पालन करते हैं। ये अधिकतर मुसलमान हैं। उनके मर्द एक खास तरह की दाढ़ी रखते और पगड़ी बांधते हैं। स्त्रियां कुर्ता पाजामा पहनती हैं जो कश्मीरी मुस्लिम स्त्रियों के पहनावे से मिलता जुलता है।

हिमाचल के लोग सरल, कपटरहित, मेहनती और ईमानदार होते हैं। अपराध की दर बहुत कम है। प्रकृति से उनकी निकटता उनको सहजव्यवहारी बनाती है। उनकी आस्थाए सरल, विश्वास आदिम और मिथक मुश्किल से समझ में आनेवाले होते हैं। लेकिन ये लोग अत्यधिक आनंदप्रिय होते हैं। जन्म, मेला, सामुदायिक बैठक, विवाह, त्यौहार—ये सभी उनके लिए नाच गाने के अवसर होते हैं। विविधता में एकता और अलगाव उनकी संस्कृति की विशेषताएं हैं। उनका समाज अपेक्षाकृत बंद समाज रहा है क्योंकि बाकी देश से संपर्क के अभाव के कारण वे अलग थलग रहे हैं। लेकिन इसका और भी बड़ा कारण यह है कि वे मैदानी लोगों पर संदेह करते और उनसे भय खाते हैं जो उनको हीन मानते और उनका शोषण करते रहे हैं। इसीलिए सदियों से वे अजनबियों से कम से कम संपर्क रखते रहे हैं।

राज्य की 93 प्रतिशत जनसंख्या खेती में लगी है। लेकिन अधिकांश भूमि राजपूतों, ब्राह्मणों और महाजनों की संपत्ति है जो राज्य के आर्थिक जीवन पर छाए हुए हैं। राजनीतिक जीवन पर उनका ही वर्चस्व है। धार्मिक सोपान में भी वे ही

ऊंचे हैं। निचली (अनुसूचित) जातियां, जो जनसंख्या का कोई 24 प्रतिशत हैं, अधिकतर दस्तकार हैं। उनके पास बहुत कम भूमि है और उनका आर्थिक जीवन ऊंची जातियों से जुड़ा हुआ है। जिनका वे आदर करते हैं। लेकिन सामाजिक और कृषि संबंधी सुधारों के कारण यह संबंध अब धीरे धीरे पारस्परिक निर्भरता का रूप लेता जा रहा है। अनुसूचित जनजातियों की जनसंख्या 4.61 प्रतिशत है।

स्त्रियां खेती में पुरुषों के साथ काम करती हैं और खेत में भी उनकी भूमिका उतनी ही महत्वपूर्ण होती है जितनी घर में। संभवतः हल जोतने को छोड़कर खेती का कोई ऐसा काम नहीं जिसमें वे भाग न लेती हों। कुछ कार्यों में वे अकेले और कुछ में पुरुषों के साथ भाग लेती हैं। वे लगातार काम करती हैं, जमीन तैयार करती हैं, रोपाई, निराई, कटाई, दंवाई और कुटाई करती हैं या सिर पर चारा, जलावन लकड़ी, खाद, पानी, अनाज और आटा लाती हैं। घर बनाने के समय वे पत्थर और मिट्टी भी लादकर लाती हैं। वे सारे कठिन और थकानेवाले काम करती हैं जिनके लिए अपेक्षाकृत कम शक्ति मगर अत्यंत सावधानी की आवश्यकता पड़ती है। पुरुष ज्यादातर हल चलाते और मिट्टी खोदते हैं, सीढ़ीदार खेतों के लिए दीवारें चिनते (बनाते) और सीढ़ियां तैयार करते हैं। लेकिन इस काम में भी स्त्रियां मिट्टी के ढेले तोड़ती और पत्थर निकालती हैं तथा मकान बनाने और दूसरे कामों के लिए उनको ढोकर ले जाती हैं।

घर के काम पूरा कर लेने के बाद स्त्रियां आमतौर पर अधिक समय घर से बाहर रहती हैं। तब वे जंगलों में घास काटती, पत्तियां या लकड़ियां जमा करती हैं या जानवरों को चराती हैं। फसल कटने के दिनों में वे चांदनी रातों में अक्सर भोजन के बाद आधी रात के बाद तक खेतों में काम करती हैं।

जहां तक खेतों में काम करने का सवाल है, जाड़े और बरसात के मौसम उनके लिए अपेक्षाकृत निष्क्रियता के काल होते हैं। लेकिन इस समय भी कताई, कपड़ों और ऊनी कपड़ों की बुनाई के काम किए जाते हैं तथा चटाइयां और टोकरियां बनाई जाती हैं। कुछ क्षेत्रों में वे लकड़ी चीरने में भी अपने साथियों की सहायता करती हैं।

किसी पहाड़ी स्त्री के लिए खेती का काम खेत में ही खत्म नहीं होता बल्कि घर में भी चलता है। फसल को लाने, दंवाने और कूटने के अलावा उसे सड़ने से बचाने के लिए छत पर या दालान में सूखने के लिए डालना पड़ता है। बागवानी में उनको पौधों की छंटाई और सेब तोड़ने के अलावा उनको कई किस्मों में अलग करना और डब्बों में भरना भी पड़ता है। छोटे गांवों में रहनेवाले किसी खेतिहर समुदाय के लिए खेती के कामों को वास्तव में घर के कामों से अलग नहीं किया जा सकता। मवेशी पालना, गायों और भैंसों को दोहना, छाछ और मक्खन तैयार करना और फिर घी तैयार करना—ये सभी एक प्रकार से कृषि के काम हैं। इन्हें स्त्रियां ही करती हैं।

वैसे तो पशुपालन हर जगह कृषि से संबंधित होता है लेकिन पहाड़ों में विशिष्ट भौगोलिक और आर्थिक दशाओं के कारण यह संबंध और भी मजबूत होता है। यहां जमीन के बाद मवेशियों में ही सबसे अधिक पूंजीनिवेश किया जाता है। किसी व्यक्ति के पास कितनी जमीन है, इसे जानने के लिए आमतौर पर यह पता किया जाता है कि वह जुताई में कितने बैलों का प्रयोग करता है। गायों, भैंसों, भेड़ों और बकरियों का स्वामित्व भी लगभग इतना ही महत्वपूर्ण होता है। दूध, ऊन और मांस के अलावा ये पशु खाद भी देते हैं, जो पहाड़ों में खेती के लिए अत्यधिक आवश्यक होती है।

पशुपालन का अधिकांश काम स्त्रियां करती हैं। स्त्री पशुओं को जंगलों में या घर पर चराती-पालती हैं। उनको चरने के लिए बाहर ले जाना और वापस लाना होता है। ग्रामवासी आमतौर पर चारा नहीं उगाते। पुआल को उन दिनों के लिए बचाकर रखा जाता है जब दूसरा चारा कम मिलता है। सबसे अधिक निर्भरता जंगली घास और रोज जमा होनेवाले पत्तों पर होती है।

कोई भी जानवरों को चराने के लिए जंगल जाता है तो सिर पर चारा या ईंधन लिए बिना नहीं लौटता। पशुओं के गोबर को उठाना, जमा करना और बाद में खाद के रूप में प्रयोग करने के लिए खेत तक ले जाना स्त्री का ही काम होता है। मवेशियों के बाड़ों की सफाई करना, घर को गाय के गोबर से लीपना और बीमार जानवरों की देखभाल करने के काम भी उसी के हिस्से में आते हैं। सुबह को उठकर वह पहला काम जानवरों को देखने का ही करती है। उनको चारा देने के बाद उनको दोहती है और फिर चरने के लिए बाहर भेज देती है।

तड़के सुबह से लेकर देर शाम तक और कभी कभी तो देर रात तक भी स्त्री का जीवन अत्यधिक व्यस्त होता है। खेती से जुड़े कामों के अलावा वह घर पर भी कड़ी मेहनत करती है। बच्चों को पालना और देखना भालना भी पड़ता है। परिवार के लिए भोजन पकाना और पुरुषों के लिए खेत पर ले जाने का काम भी वही करती है।

यहां स्त्री पुरुष के बीच श्रम का असमान विभाजन आश्चर्यजनक है। श्रम का यह अस्वाभाविक विभाजन अंशतः पर्यावरण के प्रभाव और अंशतः सामाजिक विकास की विशिष्ट अवस्था के कारण है। पहाड़ की खेती के लिए बहुत कड़ी और सघन मेहनत आवश्यक होती है, खासकर खेतों की सीढ़ीबंदी करने के आरंभिक चरणों में। संभवतः जब पहाड़ों में खेती का आरंभ हुआ तो पुरुष ही खेत को साफ करने और सीढ़ीदार खेती की दीवारें बनाने के अधिक मुश्किल कामों में लगा। जब वह इसमें व्यस्त रहा होगा तो उसकी पत्नी ही मिट्टी तैयार करने, बीज बोने और फसल काटने में उसकी सहायता करती रही होगी। बाद में यही श्रमविभाजन कमोबेश स्थायी और जड़ बन गया भले ही अब खेत को साफ और सीढ़ीबंद करने में उसका इतना

श्रम नहीं लगता हो। लेकिन स्त्री की अत्यधिक व्यस्तता उसे नीरस गृहणी नहीं बनाती। वह अपनी विनोदप्रियता और साथ ही अपनी स्वतंत्रता बनाए रखती है। खेत में उसकी आर्थिक उपयोगिता और साथ में घर के काम में उसकी आवश्यकता—इनके कारण वह जीवन में अपने पति के बराबर की संगिनी बन जाती है। वह अपने काम या व्यवहार में झिझकती नहीं है। परंपराप्रेमी होते हुए भी वह पारिवारिक संबंधों में उदार विचार रखती है।

3

प्रदेश का इतिहास

अभी तक देश के इतिहास में हिमाचल का गौण स्थान ही रहा है। आर्य, सिकंदर, महमूद गजनवी, तैमूर और मुगलों जैसे बड़े आक्रामक और विजेता यहां आए तथा लूटमार करके चले गए मगर उन्होंने इलाके पर कब्जा नहीं किया। या तो उन्होंने इसे अत्यंत प्रतिकूल या अत्यधिक निर्धन प्रदेश माना, या फिर उपजाऊ मैदान उनके लिए अधिक आकर्षक लगे। कुछ सम्राटों ने यहां के सरदारों की औपचारिक निष्ठा प्राप्त करके ही संतोष कर लिया। आक्रामकों के चले जाने के बाद ये लोग अपनी पुरानी जिंदगी की ओर पलट आये। उनका जीवन शतरंज की बिसात ही बना रहा जिस पर स्थानीय राजा और ठाकुर मुहरे चलते और एक दूसरे को शह देते रहे, मगर कोई कभी मात नहीं हुआ। छोटे सामंतों के स्वार्थपूर्ण हितों के कारण वे कभी एकजुट नहीं हो सके और इन सामंतों में कभी किसी को सशक्ततम बनने की छूट नहीं मिली। जनता को विभाजित और असहाय ही रखा गया।

हिमाचल की छोटी छोटी रियासतें किसी विचारधारा, पंथ या वाद की बजाय आत्मरक्षा के प्रति अधिक समर्पित रहीं। कोई भी झंडा उनको भावना के स्तर पर एकजुट नहीं कर सका और वे कभी भी उल्लेखनीय शक्ति नहीं बन सके।

लेकिन हिमाचल का अपना एक भिन्न प्रकार का इतिहास है जिसे खूनी लड़ाइयों के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह बल्कि अधिक दमित और एक संकीर्ण ढांचे तक सीमित है। यह उन अस्पष्ट चुनौतियों का नीरस वृतांत है जिनको जनता ने झेला। ऐतिहासिक तथ्य मिथकों और दंतकथाओं में लिपटे होने के कारण अस्पष्ट हैं। ऐतिहासिक सारतत्व तक पहुंचने के लिए इन मिथकों को भेदना और ऐतिहासिक कथाओं का गहन अध्ययन करना होगा।

इस इतिहास का वर्णन आक्रामकों या उनके दरबारी इतिहासकारों ने या फिर राजपूत भाटों और चारणों ने किया है! इनको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। इस कारण इनमें भूसा बहुत अधिक है और दाने बहुत कम हैं।

हिमाचल में मानव के आरंभिक पहचान योग्य अवशेष सन् 1955 में पाए गए जब कांगड़ा, कुलेर और देहरा में 'सोहन' प्रकार के पुरापाषाणकालीन औजार मिले। विकास के विभिन्न चरणों में बने ये औजार ही भारत में सबसे पहले पाए जाने वाले

औजार थे हालांकि बंटवारे के पहले ऐसे औजार सोहन घाटी में पाए गए जो अब पाकिस्तान में है। लगभग 40,000 साल पुराने लगनेवाले ये औजार इस क्षेत्र में रहनेवाले मानव और उसके पर्यावरण पर रोशनी डालते हैं।

प्रागैतिहासिक काल में ऐसा लगता है कि हिमाचल के इलाके को सिंधु घाटी के मैदानों की तरह ही देशांतरण के तनावों और दबावों का सामना करना पड़ा। सिंधु घाटी सभ्यता के लोगों ने संभवतः केवल अपने प्रसार के द्वारा ही आस्ट्रेलाभ (आस्ट्रेलायड) या मुंडाभाषी कोलोरी जनगण को गंगा के मैदानों से मध्य भारत के जंगलों और उत्तरी भारत के पहाड़ों की ओर खदेड़ दिया।

वैदिक आर्यों ने उत्तर भारत या उसकी पहाड़ियों में रहनेवाले लोगों को आगे चलकर दस्यु, निषाद और किरात जैसे नाम दिये। वैदिक पश्चात् काल में उनको संभवतः यक्ष, नाग और किन्नर कहा जाने लगा। इनमें पहले दो अर्थात् यक्ष और नाग इतिहास से मिट चुके हैं और अब केवल भारतीय मिथकों और दंतकथाओं में ही उनका उल्लेख मिलता है जबकि किन्नर लोग आज किन्नौर में रहते हैं। उनके मुंडा मूल का ऐतिहासिक साक्ष्य यह है कि उनका व्याकरण मंदारी के व्याकरण से मिलता जुलता है जिसे छोटानागपुर क्षेत्र के मूल निवासी बोलते हैं। इसे बहुत प्राचीन काल में मुंडा आदिवासियों और तिब्बतियों के समन्वय का पता चलता है।

हिमाचल क्षेत्र में कोलों के बसने का प्रमाण कुमायूं के चंदेश्वर, सामेश्वर और छत्तीस की चट्टानों पर मौजूद स्थापत्य से भी मिलता है। पत्थरों की ऐसी ही कृतियां कांगड़ा जिले में भी पाई गई हैं। ये स्थापत्य कृतियां साजसज्जा के किसी भाव के नहीं बल्कि कुछ निश्चित विश्वासों के संकेत देती हैं। उनकी आदिम आस्था या विश्वास के जनप्रचलित और भक्तिमूलक पक्ष को तो समझा जा सकता है, मगर उनके रहस्यमय और दार्शनिक आधार का पता नहीं चला है। लगता है कि ये लोग 'नागों' और 'गणेश' जैसे पशु देवताओं की पूजा करते थे और ये देवता कुछ अन्य देवी-देवताओं के साथ हिंद आर्य परंपराओं में घुल मिल गये हैं (उपलब्ध साक्ष्यों से पता चलता है कि कोल समूहों में रहते थे तथा खेती और पशुपालन करते थे।) हिमाचल के आज के कोली, हाली, डोम और डांगी (अनुसूचित जातियां) संभवतः उन्हीं के वंशज हैं।

आर्य पूर्वकाल में निचली शिवालिक श्रेणियों में किरात नामक एक और महत्वपूर्ण जनगण रहता था जिनका राजा शांबर आर्य राजा दिवोदास से लड़ा था। किरातों का अपना एक सुगठित समाज था जिसमें कानून व्यवस्था की अपनी प्रणाली थी। वे नगरों में रहते और दुर्ग बनाते थे। हिमाचल क्षेत्र से आर्यों का पहला संपर्क 3,000 से 2,500 ईसा पूर्व के बीच हुआ जब वे परुष्णी (रावी) को पार करके अर्षिकीय (व्यास) नदी तक पहुंच गये। यहां उनका सामना किरातों से हुआ जिनका राजा निचली शिवालिक श्रेणियों में बैजनाथ के निकट अपने ढंग से राज्य करता था।

तब आर्यों का नेता राजा दिवोदास था और ऋषि भारद्वाज उनके प्रमुख सलाहकार थे। दिवोदास और शांबर का युद्ध 40 वर्षों तक चला। इसका वर्णन वशिष्ठ और वामदेव ने ऋग्वेद में किया है। दिवोदास और शांबर की अधिकतर लड़ाइयां पहाड़ियों में लड़ी गयीं। इनके फलस्वरूप किरातों की पूर्ण पराजय हुई और उनके सारे दुर्ग (99) नष्ट कर दिए गए, शायद एक को छोड़कर जिसे आर्यों ने शायद अपने पास रख लिया। शांबर और उसका सहयोगी वेरची उडुबराज नामक स्थान पर मारे गए। यह भी कहा गया है कि आर्यों को किरंज, पार्ण्य और चुमरी नामक अन्य राजाओं से भी लड़ना पड़ा। लेकिन ये लोग कुछ खास मुकाबला न कर सके और अपने बेहतर सैन्य संगठन के बल पर आर्यों ने निचली शिवालिक के पूरे क्षेत्र पर अधिकार कर लिया।

आर्य लोग हिमाचल की अंदरूनी पहाड़ियों की तरफ नहीं बढ़े। शायद यह क्षेत्र बहुत अनुकूल भी नहीं था। इसके अलावा किरातों को जीतने के बाद गंगा के मैदानों की ओर बढ़ने की दृष्टि से उनका पृष्ठक्षेत्र सुरक्षित हो गया था। विजेता आर्य राजा अब दूसरे कबीलों पर भी ध्यान दे सकता था जो पश्चिम की तरफ परुष्णी (रावी) के पार से एकजुट होकर उसका पीछा कर रहे और खतरे पैदा कर रहे थे। किरातों को पराजित करने के बाद दिवोदास की मृत्यु हो गई और उसका बेटा सुदास राजा बना। भारद्वाज अब भारतों के पुरोहित नहीं रहे थे और उनका स्थान आर्यों के एक और यशस्वी नेता वशिष्ठ ने ले लिया था। दस आर्य सरदारों ने सुदास का विरोध किया। इसे ही ऋग्वेद में दशराज्ञ अर्थात् दस राजाओं का युद्ध कहा गया है। यह भी किरात युद्ध की तरह एक लंबा युद्ध था और अंत में सुदास की विजय हुई। उसके शत्रु पीछे हटकर रावी के पश्चिम में चले गए। उपजाऊ मैदान अब सुदास के लिए खाली पड़े थे।

किरातों और दूसरे पहाड़ी कबीलों पर आर्यों की विजय ने पहाड़ों में जीवन के ढर्रे पर शायद ही कोई स्थायी प्रभाव डाला हो। आर्यों के घुमक्कड़ जीवन और पूजा की विधियों ने पहाड़ी जनता को प्रभावित नहीं किया। उन्होंने केवल यज्ञ के बलि वाले भाग को स्वीकार किया क्योंकि यह तमाम शुभ अवसरों पर पशुबलि देनेवाले आदिवासियों के स्थानीय रीति रिवाजों के अनुकूल था। आर्य विजेताओं ने यहां प्रचलित नियमों और परंपराओं को भी नहीं बदला। दूसरी ओर ऐसा लगता है कि आर्यों ने पहाड़ी जनता के कुछ धार्मिक विश्वासों और अनुष्ठानों को अपना लिया।

खस लोग आर्यों से मिलते जुलते थे और मध्य एशिया में रहते थे। कुछ इतिहासकारों ने उनको आर्य भी कहा है, लेकिन हिंद-आर्य साहित्य में उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार आर्य विधि विधानों का पालन न करने के कारण उनको पतित करके शूद्र का दर्जा दे दिया गया। कश्मीर (काशगिरि) के रास्ते हिमाचल में खसों के प्रवेश

का ठीक ठीक समय तो ज्ञात नहीं है हालांकि इसके बारे में अनेक अनुमान लगाए गए हैं। कुछ का विचार है कि वे आर्यों से पहले आए जबकि औरों का विश्वास है कि वे हिमाचल में ठीक तभी आये जब आर्य लोग मैदानों की तरफ बढ़ चुके थे। दूसरा मत सत्य के अधिक निकट लगता है क्योंकि अगर खस यहां आर्यों से पहले आए होते तो किरातों से उनका मुकाबला हुआ होता। उस हालत में किरात इतने शक्तिशाली नहीं रह गये होते कि 40 वर्षों तक आर्यों का मुकाबला कर पाते। इसके अलावा खसों का भी आर्यों से टकराव हुआ होता। कुछ का कहना है कि खस आर्यों जैसे ही मूल के थे और इसीलिए आर्यों ने उनसे युद्ध नहीं किया। लेकिन अगर आर्य दशराज्ञ में आर्यों से लड़ सकते थे तो वे खसों से क्यों लड़ने से बचते, भले ही वे उनके निकटवर्ती संबंधी रहे हों।

तथ्य यह है कि आर्य लोग तो मैदानों की तरफ बढ़ गए और बचे खुचे किरातों, किन्नरों, नागों, यक्षों और नये आनेवाले खसों को सत्ता के लिए आपस में लड़ने के लिए छोड़ गये। अंततः खस ही विजयी हुए। किरात और किन्नर अंदरूनी और दुर्गम इलाकों की ओर खदेड़ दिए गये। दूसरी ओर नाग और यक्ष समाप्त ही हो गए। केवल महाभारत में उनका उल्लेख हुआ है और आगे चलकर उनको दानवों और परियों के रूप में याद किया जाने लगा।

खसों की पूजा की पद्धति तीन स्तरों की थी—इष्टदेवता (व्यक्ति का अपना देवता), गृहदेवता और ग्रामदेवता की पूजा। यह तीन स्तरों की पूजा हिमाचल में अब भी प्रचलित है जहां हर व्यक्ति के अपने इष्टदेवता, कुलदेवता और ग्रामदेवता होते हैं। खसों में परिवार, गांव और पंचायत के मुखियों की प्रथा भी थी। निचली पहाड़ियों के खसों ने आर्यों के संपर्क में अधिक रहने के कारण पुरोहित की संस्था को भी अपनाया जबकि ऊपरी पहाड़ियों के खसों का ऐसा कोई गुरु नहीं होता था। आज भी ऊपरी क्षेत्रों में अब्राह्मणवादी विवाह होते हैं जबकि निचले क्षेत्रों में ये कमोबेश वैदिक ढंग से संपन्न किए जाते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि आर्य विजेता पहाड़ों से चले गए। लेकिन उन्होंने इन क्षेत्रों से अपना संपर्क विभिन्न ऋषियों मुनियों के माध्यम से बनाए रखा जो शांति और ध्यान के उद्देश्यों से हिमाचल में जाते थे। पहाड़ों के शांत और सुरम्य वातावरण में वे अपने आश्रम स्थापित करते थे जहां वे पूजा-पाठ और अध्यापन कार्य करते थे। शक्तिशाली आर्य राजाओं के गुरु होने के कारण उनकी बातों का सम्मान किया जाता था। उनके आश्रम ज्ञानार्जन के केंद्र थे। इसलिए उनको भारी आदर प्राप्त होता था। आज भी पहाड़ी लोगों के जीवन में साधु या किसी पुजारी की बात को भारी महत्व दिया जाता है और पहाड़ी लोग जीवन मृत्यु से संबंधित प्रश्न लेकर उनके पास जाते हैं। वशिष्ठ, व्यास, जमदग्नि, परशुराम जैसे कुछ स्थानीय देवताओं के नाम प्राचीन भारतीय ऋषियों से लिए गए हैं।

खस लोग जनतांत्रिक होते थे और उन्होंने पहाड़ों में कुछ खास तरह के अल्पतांत्रिक गणराज्य स्थापित किए। मैदानों के आर्य राजतंत्रों का इन खस गणराज्यों से संपर्क था। सबसे पहले 'महाभारत' में और फिर पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' में उनका उल्लेख हुआ है। कौरवों और पांडवों से व्यापार-वाणिज्य के अलावा इन गणराज्यों के राजनीतिक संबंध भी थे। महाभारत-युद्ध में एक आयुधजीवी संघ और छह राज्यों के महासंघ त्रिगर्त का सुशराम, दुर्योधन की तरफ से लड़ा था। कहते हैं कि राजसूय यज्ञ के पहले की विजय यात्रा के दौरान अर्जुन ने त्रिगर्त, कुलूट और कुलिंद गणराज्यों की यात्रा भी की थी। भीम ने मनाली के पास के क्षेत्रों के विजय के दौरान एक राक्षसी राजकुमारी हिडिंबा से विवाह किया था। खस, एकसान, परोड़, कुलिंद (जिनके वंशज आज के कनेत हैं) ने राजसूय यज्ञ के दौरान युधिष्ठिर को स्वर्णपात्र भेंट किए थे।

ऐतिहासिक साक्ष्यों से पता चलता है कि आर्यों की विजय और खसों के प्रवेश के बाद हिमाचल में कबीलाई राजतंत्रों या गणराज्यों की बहुतायत हो गयी। इनमें औडंबर, त्रिगर्त, कुलूट और कुलिंद प्रमुख थे।

औडंबरों को महाभारत में (कौशिक गोत्र के) विश्वामित्र के वंशज कहा गया है। यह एक शक्तिशाली कबीला था और उसके सिक्के पठानकोट, कांगड़ा के ज्वालामुखी क्षेत्र और होशियारपुर जिले में पाए गये हैं। पाणिनि की कृतियों में भी उनका उल्लेख मिलता है। इससे यह विश्वास बनता है कि पांचवीं सदी ईसा पूर्व में भी उनका अस्तित्व था। ये कबीले गणराज्यवादी थे और अपने राजा का चुनाव करते थे। उनके सिक्कों पर ब्राह्मी और खरोष्टी में खुदी लिखावट उनकी शासनप्रणाली पर प्रकाश डालती है। उनके चांदी और तांबे के सिक्के कबीले और चुने गए राजाओं के नाम से जारी किए गए थे।

त्रिगर्त का उल्लेख महाभारत, पुराणों और पाणिनि की कृतियों में हुआ है। इसे जालंधर का समरूप माना जाता है। पाणिनि में त्रिगर्त षष्ठ (छह गणराज्यों के महासंघ), कौडोपराठ, दांडकी, क्रौष्टकी, जलमणि, ब्रह्मगुप्त और जानकी का उल्लेख किया है। ये सभी पहचान से बाहर हैं, संभवतः ब्रह्मगुप्त को छोड़कर जो चंबा जिले में आज का ब्रह्मौर हो सकता है

पाणिनि का कथन है कि त्रिगर्त षष्ठ एक आयुधजीवी संघ था और उसके लोग शस्त्रवृत्ति को अपनी संरचना की महत्वपूर्ण विशेषता मानते थे। कुलूट का उल्लेख महाभारत, रामायण और विष्णु पुराण में हुआ है। यह क्षेत्र ऊपरी व्यास वादी (अब कुल्लू की वादी) में स्थित था। इसकी राजधानी नागर थी। कुल्लू वादी से मिले, कुलूटों के तांबे के सिक्के उनके शासनकाल पर रोशनी डालते हैं।

प्राचीन कुलिंदों का उल्लेख महाभारत और पुराणों में आया है। इनको आगे चलकर कुनिंद कहा जाने लगा। उनका गणराज्य व्यास और यमुना के बीच के पहाड़ी

क्षेत्रों में फला फूला। अब यह संभवतः शिमला और सिरमौर क्षेत्रों में पड़ेगा। जैसा कि इसके सिक्कों से पता चलता है, यह गणराज्य राजन् की पदवी को स्वीकार करता था और इसीलिए कुछ लोग इसके गणराज्यवादी चरित्र पर संदेह करते हैं। लेकिन चाणक्य ने कुछ राजसब्दोपजिविन् संघों का उल्लेख किया है जो राजन् की पदवी को स्वीकार करते थे। कुलिंद गणराज्य दूसरी सदी ईसा पूर्व में फला फूला। आज के कनेत संभवतः कुलिंदों के ही वंशज हैं।

सितंबर 326 ईसा पूर्व तक सिकंदर हाइफेसिस (व्यास) के दाहिने तट तक पहुंच चुका था। वह उसके पार के राज्यों को जीतने पर आमादा लगता था जो बहादुर किसानों के वंशों के रूप में प्रसिद्ध थे, जिनके पास अभिजातवादी शासन की एक प्रशंसनीय प्रणाली थी (संभवतः औडंबर और त्रिगर्त) और जिनका इलाका उपजाऊ था। उस महान विजेता को महसूस हुआ कि उसके सैनिक अब अपनी पुरानी तत्परता से उसके आदेशों का पालन नहीं करते थे तथा अधिक दूर की और कठिन, दुस्साहसी यात्राएं करने के लिए तैयार नहीं थे। उसने एक जोशीला भाषण देकर उनके उत्साह को उभारना चाहा जिसमें उसने उनकी पिछली जीतों को याद दिलाया था, और उनको पूरे एशिया के क्षेत्र और संपत्ति देने का वादा किया। लेकिन वे सैनिक जवाब में खामोश रहे। तब सिकंदर की घुड़सवार सेना के विश्वस्त जनरल कोइनोस ने जवाब देने की हिम्मत बटोरी। उसने अपने राजा से प्रार्थना की कि अपने सैनिकों के थककर चूर हुए शरीर और साहस को देखे जो लगभग आठ साल पहले घर छोड़कर निकले थे और अब आगे जाने की हालत में नहीं थे।

सिकंदर इससे अत्यंत भयभीत हुआ मगर वह अभी भी अपनी बात छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। इसलिए वह अपने खेमे में चला गया। वहां से वह तीसरे दिन निकला और जब ज्योतिषियों ने कहा कि आगे बढ़ने के लिए ग्रह शुभ नहीं हैं तो उसने वापसी का आदेश दिया। अपनी विजय यात्रा के अंतिम बिंदु की पहचान के लिए उसने वर्गाकार पत्थरों की बारह बड़ी वेदियां बनवायीं जिनमें प्रत्येक 50 क्यूबिक ऊंचाई की थी और जो बारह बड़े देवताओं को समर्पित थीं। हालांकि उसकी सेना ने व्यास को पार नहीं किया, मगर प्लिनी के अनुसार ये विशालकाय स्मारक नदी के उत्तरी तट पर बनाये गये थे। ये स्मारक स्रोतों के अनुसार कांगड़ा जिले में स्थित इंदौरा और पहाड़ियों की तलहटी के पास स्थित मिर्ठल के बीच ऐसी जगह बनवाये गये जहां व्यास पूर्व से पश्चिम की ओर बहती है। उत्तरी तट के कटाव के कारण इन स्मारकों के सभी चिह्न मिट चुके हैं।

कहते हैं कि सिकंदर और उसके उत्तराधिकारियों के कुछ विजित क्षेत्रों को अपने अधिकार में लेनेवाला प्रथम भारतीय सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य इन वेदियों की पूजा करता रहा और उसने वहां बलि देने के लिए नदी को भी पार किया था। एरियन के वृतांत

के अनुसार सिकंदर ने "इन वेदियों के निर्माण के बाद परंपरागत अनुष्ठानों, प्रसिद्ध व्यायामों और घुड़सवारी के खेलों के साथ उन पर बलि दी थी।"

सिकंदर के जाने के बाद पश्चिमोत्तर भारत में एक राजनीतिक शून्य पैदा हो गया। एक महत्वाकांक्षी और बहादुर युवक राजा चंद्रगुप्त मौर्य, जिसे एक कुशल कूटनीतिज्ञ चाणक्य का संरक्षण प्राप्त था, स्थिति पर नजर रखे हुए था। उसने पश्चिमोत्तर के पहाड़ी कबीलों से दोस्ती की और पर्वटक अर्थात् सिकंदर के अभियान के प्रसिद्ध पोरस को अपना सहयोगी बनाया। कुछ लेखकों ने यह दिखाने की कोशिश की है कि पर्वटक त्रिगर्त का राजा था। लेकिन हाल के अनुसंधानों से कमोबेश अकाट्य रूप से सिद्ध हो गया है कि पर्वटक कोई और नहीं बल्कि पोरस ही था और उसी वक्त मारा गया था जब चंद्रगुप्त ने मगध के शासक नंद पर विजय पायी थी। मगध पर हमला करने से पहले चंद्रगुप्त ने पश्चिमोत्तर पंजाब, हिमाचल की पहाड़ियों और जालंधर खंड से सैनिक भरती किये थे। गणराज्यवादी शुद्रिक और मालव वंशों और कुछ भवनों के सहयोग से उसने त्रिगर्त षष्ठ के आयुधजीवी संघ, कंबोजों, शकों, खसों और किरातों से सैनिक जुटाए थे।

322 ईसा पूर्व में मगध के सिंहासन पर बैठने के बाद चंद्रगुप्त मौर्य ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसका प्रमुख सलाहकार चाणक्य सार्वभौम राज्य के लिए प्रयत्न कर रहे एक विजेता के प्रति गणराज्यों के समर्थन की प्रशंसा अवश्य करता था। मगर फिर भी उसका विचार था कि ये गण (गणराज्य) बुरी शासनप्रणालियां हैं और 'महत्वाकांक्षी राजा को चाहिए कि उनका शोषण करे और जब वे कमजोर पड़ जायें तो उनका विनाश कर दे।' इस सलाह को मानकर चंद्रगुप्त ने अपने पिछले सहयोगियों को भुला दिया। उसने हिमाचल के 'गणराज्यों' को पराजित किया और इस प्रक्रिया में कुछ को नष्ट भी कर दिया।

चंद्रगुप्त की लोहा और खून की नीति के बाद उसके पोते अशोक ने हिमाचल क्षेत्र में शांति और धर्म की स्थापना की। यहां उसने भिक्षु मज्झिम के नेतृत्व में पांच धर्मोपदेशक भेजे। अशोक ने यहां कुछ स्तूप भी बनवाए जिनमें एक कुलूट की वादी में था। ह्वेनत्सांग ने इसका उल्लेख किया है।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद हिमाचल क्षेत्र के गणराज्यों ने फिर से खुद को संगठित किया। उनमें कुछ गणराज्यों जैसे कुलिंद ने अपने सिक्के जारी किए। लेकिन औडंबर और त्रिगर्त षष्ठ जैसे कुछ गणराज्य बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो चुके थे। त्रिगर्त षष्ठ अनेक भागों में बंट गया था और इसकी ब्रह्मगुप्त जैसी कुछ इकाइयां एक अलग और स्वतंत्र प्रदेश (ब्रह्मपुर) बन चुकी थीं जिसका जिक्र ह्वेनत्सांग ने किया है। कनिष्ठ के समय में कुषाण इन गणराज्यों के अधिराज थे। लेकिन कुषाण साम्राज्य के कमजोर पड़ने पर कुलिंदों ने यौधेयों और अर्जुनेयों से मिलकर स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ी और उसे पा भी लिया। लेकिन उनकी कठिनाई से प्राप्त स्वतंत्रता बहुत दिनों

तक नहीं चली। 340 ई० के आसपास साम्राज्यप्रेमी समुद्रगुप्त ने अपने अश्वमेध यज्ञ से पहले उनको चुनौती भेजी कि वे या तो उसके अधिराज्यत्व को स्वीकारें और शांति समृद्धि का जीवन बिताएं या फिर उसी तरह से नष्ट हों जैसे उसके विरोध का साहस करनेवाले दूसरे राजतंत्र नष्ट हो गए थे। उसे कभी पहाड़ों तक अपनी सेना नहीं ले जानी पड़ी जिन्होंने उसके अधिराजत्व को स्वीकार कर लिया था।

गुप्त साम्राज्य 480-90 ई० में विघटित हो गया। इसके कारण आंतरिक कलह थे और हूणों का बाहरी दबाव भी, जिनका पांचवीं सदी के अंतिम दिनों में पश्चिमोत्तर में प्रवेश बढ़ चुका था। 500 ई० में तोरमाण हूण ने मध्य भारत में स्थित मालवा तक के इलाके पर अपना राज्य स्थापित किया। उसकी मृत्यु के बाद 'भारत का एटिला' कहलानेवाला मिहिरगुल उसका उत्तराधिकारी बना जिसने अपनी घोर निर्ममता के साथ लोगों और उनकी शासनप्रणालियों को एक ही तरह समाप्त किया। उत्तरी और पश्चिमोत्तर भारत का जनजीवन पूरी तरह क्षत विक्षत हो गया। हूणों के गिरोह पूरे इलाके में हर वस्तु को नष्ट करते हुए दनदनाते फिरते थे। 528 ई० में मध्य भारत के राजा यशोधर्मन ने मिहिरगुल को पराजित किया। फिर वह कश्मीर की तरफ भाग गया और धोखे से उसका राजा बन बैठा।

पुस्तकों और अभिलेखों में हूणों का उल्लेख अक्सर 'गुर्जरों' के संदर्भ में हुआ है जिनका नाम आज के गुज्जरों के रूप में भी बाकी है। आरंभिक गुर्जर विदेशी तत्व थे जो श्वेत हूणों से घनिष्ठ रूप से संबंधित थे और उनके शायद खून का रिश्ता भी रखते थे।

हूणों के आक्रमण और मिहिरगुल की पराजय के बाद फैली अराजकता के कारण हिमालय से इस तरफ के इलाके में अनेक छोटे राज्य स्थापित हुए। उनके सरदारों को राजा, राणा और ठाकुर कहा जाता था। वे खुद को क्षत्रिय कहते थे। वास्तव में सरदार का पद जीतनेवाले वंशों या परिवारों को हिंदू राजनीतिक व्यवस्था में आसानी से क्षत्रियों या राजपूतों के रूप में स्वीकार कर लिया जाता था। इन सरदारों की राजा की पदवी शब्द राजांग से और राणा की पदवी शब्द राजांक से व्युत्पन्न थी। दूसरी ओर अधुनातन अनुसंधानों के अनुसार ठाकुर शब्द युव-चे तोखरी भाषा का शब्द है और उसी के बोलनेवालों द्वारा भारत में लाया गया। मूलतः यह शब्द युव-चे तोखोरी कबीले के लिए प्रयुक्त होता था जो अराल सागर के पास रहता था और कनिष्क के शासनकाल में अपने वैभव की चरमसीमा तक पहुंचा था। जब से युव-चे को भारत में वर्चस्व की स्थिति प्राप्त हुई, शब्द ठाकुर या ठक्कुर भी प्रतिष्ठासूचक हो गया और आमतौर पर किसी भी सरदार, योद्धा, सामंत या कुलीन के लिए प्रयुक्त होने लगा। आरंभ में सामंत या सरदार का पर्यायवाचक होने के बाद यह शब्द किसी उच्च क्षत्रिय या ब्राह्मण जाति के व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होने लगा, बल्कि यह आगे चलकर उच्च दैवी शक्ति के लिए भी प्रयुक्त होने लगा।

जब हर्षवर्धन 606 ई० में स्थानेश्वर (थानेसर) के सिंहासन पर बैठा तब पश्चिमोत्तर भारत राजनीतिक उथल पुथल और अराजकता का शिकार था। स्थानेश्वर कुरुभूमि थी और यह पांडवों और कौरवों की युद्धस्थली के रूप में विख्यात है। हर्ष ने अपनी अद्‌भुत योग्यताओं और ऊर्जा का प्रयोग विजय की एक सुव्यवस्थित योजना को लागू करने के लिए किया ताकि 'पूरे भारत को एक छत्र के नीचे' लाया जा सके। उस समय उसके पास 5,000 हाथी, 20,000 घोड़े और 50,000 पैदल सैनिक थे। उसने रथों को व्यर्थ जानकर त्याग दिया था। इस गतिशील और दुर्दांत सेना के बल पर हर्ष ने पहले पश्चिमोत्तर और फिर पूरे उत्तरी भारत को जीता। लगता है कि पहाड़ों के सरदारों ने लड़े बिना ही हर्ष की अधीनता स्वीकार कर ली। लेकिन एक बार हर्ष की शक्तिशाली सत्ता के समाप्त होने के बाद पराजित सरदार फिर स्वतंत्र हो गये। राजा या राणा अपने 'राहुनों' पर और ठाकुर अपनी अपनी 'ठाकुरी' या 'ठकुराइयों' पर राज्य करने लगे। उनके राज्य आकार में छोटे थे और हमेशा आपस में लड़ते रहते थे। एक राजा दूसरे को नीचा दिखाता तो उनकी सीमाएं भी बदल जाती थीं। लोकगाथाओं में उनकी अनेक लड़ाइयों के वर्णन मिलते हैं। कांगड़ा और कुल्लू को छोड़कर पूरा हिमाचल क्षेत्र ऐसे ही 'राहुनों' और 'ठकुराइयों' में बंटा हुआ था।

हर्ष के बाद के काल में ही भारत में सबसे बड़ा राजनीतिक शून्य आया। उसकी मृत्यु के साथ फूट की ताकतों पर लगाम लगाने वाले संबंध कमजोर पड़ गये। पूरा देश एक अराजक स्वायत्ता का शिकार हुआ। हिमाचल के क्षेत्र भी इसके अपवाद नहीं थे। स्थानीय क्षुद्र सरदारों की कलह बाहरी हस्तक्षेप का निमंत्रण बन गयी। अब सामने आये राजपूत राजा, जिनको दबावों के कारण अपने राज्य छोड़ने पड़े थे और जो नये साहसिक अभियानों के लोभ में यहां आये। पुराने राणा और ठाकुर गायब हो गये या अधीनस्थ सरदार बन गये। उनके स्थान पर नये राजा आये जिनके पास तलवार और छलबल की शक्ति थी। कुछ पुराने राणा और ठाकुर नये राजाओं के प्रति नाममात्र निष्ठा दिखाकर कुछ समय तक और बने रहे। लेकिन अंततः ये नये राजा ही कालांतर में सर्वोच्च सत्ता बनकर उभरे। वंशावलियों और दूसरे साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अधिकांश पहाड़ी राज्य बारहवीं सदी से पहले ही स्थापित हो चुके थे। लेकिन ब्रह्मपुर (ब्रह्मौर), कुलूट (कुल्लू), स्पीति और सुघ्न (सिरमौर क्षेत्र के लगभग समकक्ष) जैसे कुछ राज्य इसके पहले भी कुछेक सदियों से अस्तित्व में थे। इनके उल्लेख ह्वेनत्सांग ने भी किए हैं और पहले के दस्तावेजों ने भी।

भारतीय इतिहास के बहुत आरंभिक काल से ही कांगड़ा जालंधर के त्रिगर्त षष्ठ का अंग था। हूणों के हमलों और आगे चलकर अनेक कबीलों के प्रवेश के कारण मैदान पहाड़ी इलाकों से कट गए। पहाड़ी राज्यों ने अपना एक अलग क्षेत्र बनाया जिसकी राजधानी नागरकोट या कांगड़ा थी। कालांतर में इसी राज्य से जसवान,

गुलेर, सिब और दातारपुर जैसे राज्य बने। जसवान की स्थापना 1170 ई० और गुलेर की स्थापना 1405 ई० में हुई थी।

नूरपुर की स्थापना एक तोमर राजपूत जेठपाल ने लगभग 1000 ई० में की थी। इसकी राजधानी प्रतिष्ठान (पठानकोट) थी।

पाणिनि के अनुसार चंबा ब्रह्मगुप्त नामक 'जनपद' था और त्रिगर्त षष्ठ का भाग था। यह छठी शताब्दी में किसी समय एक राज्य बना और 680 ई० में इस पर मनु वर्मन नामक एक शक्तिशाली राजा ने शासन किया। मूलतः यह क्षेत्र ब्रह्मौर तक सीमित था। राजा शैल वर्मन ने इसकी सीमाओं को फैलाया और 92 ई० में चंबा नगर स्थापित किया।

ह्वेनत्सांग के अनुसार कुल्लू का घेरा कोई 75 मील था और यह चारों तरफ ऊंचे पहाड़ों से घिरा हुआ था। 500 ई० में इस पर राजा ब्रह्मपाल का शासन था।

राजा वीरसेन ने, जिसके पूर्वज मुस्लिम आक्रमण के बाद बंगाल से भागकर आए थे, 1288 ई० में सुकेत की स्थापना की। उसके भाई गिरिसेन ने क्योंथल की स्थापना की।

मंडी राज्य सुकेत से ही टूटकर बना था। इसे चौदहवीं सदी में वनसेन ने स्थापित किया था। मंडी नगर की स्थापना अजबेरसेन ने 1527 ई० में की थी।

कुटलेहर की स्थापना एक ब्राह्मण जसपाल ने की थी जिसे राजपूत माना जाता था। इसी तरह बंघल नामक एक और राज्य की स्थापना 1200 ई० में एक और ब्राह्मण पृथीपाल ने की थी।

बुंदेलखंड में स्थित चंदेरी के वीरचंद ने सतलुज की वादी में स्थानीय ठाकुरों को हराकर लगभग 900 ई० में विलासपुर (केहलूर) राज्य की स्थापना की थी। पहले इसकी राजधानी नैनादेवी थी जिसे बाद में हटाकर बिलासपुर लाया गया। नलगढ़ विलासपुर से ही टूटकर बना था। इसकी स्थापना केहलूर राजाओं के एक वंशज अजयचंद ने की थी।

बुशहर हिमाचल के सबसे बड़े राज्यों में एक था। उसकी स्थापना के बारे में स्पष्ट साक्ष्य नहीं मिलते। बसपा वादी में स्थित कामरू इसकी पुरानी राजधानी थी जिसे हटाकर सराहन लाया गया। बुशहर के राजा ने तिब्बत और लद्दाख की संयुक्त सेना को हराया था। उसने सत्रहवीं सदी की एक संधि के द्वारा तिब्बत के इलाके को उसकी वर्तमान सीमा तक धकेल दिया था। इस काम में उसे मुगल दरबार का समर्थन प्राप्त था।

सिरमौर की स्थापना जैसलमेर के राजा सालवाहन के पुत्र राजा रसालू ने की थी। इसका क्षेत्र लगभग वही था जो प्राचीन स्रुघ्न राजतंत्र का था। सिमूरी ताल इसकी पहली राजधानी थी जो बारहवीं सदी में गिरि नदी की बाढ़ में बह गई थी।

बाद में नाहन इस राज्य का मुख्यालय बना। जुब्बाल, बालसों, रतेश सिरमौर से ही टूटकर बने।

कांगड़ा, कुल्लू, बुशहर और चंबा को छोड़कर दूसरे राज्यों की स्थापना मैदानों के दुस्साहसी राजपूतों ने आठवीं और बारहवीं सदियों के बीच बल्कि यहां तक कि पंद्रहवीं और सोलहवीं सदियों में भी की थी। बाकी राज्यों में मंडी, सुकेत, सिरमौर और नूरपुर ही बड़े थे। शेष छोटे छोटे रजवाड़े थे जिनमें अधिकतर ठकुराई थे। ठकुराइयों की संख्या 30 थी जो 12 और 18 के दो समूहों (बारह ठकुराई और अठारह ठकुराई) में विभाजित थीं। ये क्रमशः निचली शिमला पहाड़ियों में और टौंस, पाबार तथा सतलुज नदियों की वादियों में स्थित थीं। पहले समूह की ठकुराइयों के नाम क्योंथल, बघाट, कुठार, कुनिहर, भज्जी, धामी, मेहलोग, कोटी, मंगल, बेजा, भरौली और बंघल थे। दूसरे समूह की ठकुराइयों के नाम थे जुब्बल, सरी, रावीगढ़, बालसों, रतेश, धुंड, माधन, ठेवग, कुमारसैन, खनेती, डेलथ, करागंला, कोटखई-कोटगढ़, दरकोटी, थरोच, ढाडी, सांगड़ी और डोडरा कवर थे।

ये राज्य हमेशा ही आपस में लड़ते रहते थे। लेकिन ये लड़ाइयां आमतौर पर मरने मारने की सीमा तक नहीं चलती थीं। एक ही नस्ल या वंश के होने के कारण और अक्सर विवाह संबंधों में बंधे होने के कारण ये राजा, राणा और ठाकुर दूसरों को अधीन बनाने तक ही सीमित रहते थे। इसलिए इस इलाके की प्रकृति के कारण वे केवल सीमित युद्ध ही लड़ सकते थे। एक दो लड़ाइयां होतीं और राज्यों के साधन चुक जाते। जनसंख्या के कम और बिखरी हुई होने के कारण जनशक्ति थोड़ी मिलती थी। कोई सरदार वास्तविक युद्धों के द्वारा नहीं बल्कि शस्त्रबल, तड़क भड़क और महिमा के प्रदर्शन के द्वारा ही दूसरों को अभिभूत करता था। रक्तरंजित और विनाशकारी युद्ध कम होते थे। दूसरे साधनों के रूप में छलबल और कूटनीति का सहारा लिया जाता था। ये ही कारण थे कि शासक राज्य का अधिकांश कोष, जो थोड़ा ही होता था, हड़प लेते थे और उसे अपने परिवारों पर और तड़क भड़क के जीवन पर लुटाते थे।

इन राजाओं के बड़े बड़े किले और भव्य महल जो प्रभावोत्पादक ऊंचाइयों पर खड़े थे, और उनके चारों तरफ उनकी प्रजा के दीन हीन दिखनेवाले झोपड़े—ये सब प्रजा से लिए जानेवाले बेगार के स्मारक हैं। पहाड़ों में भूमि राजा की संपत्ति होती थी। फल यह होता था कि वादी की चुनिंदा, सिंचित और सबसे अच्छी जमीनें राजा की निजी संपत्ति होती थीं जबकि जनता को किसी तरह जीवन यापन के लिए जूझना पड़ता था और चट्टानी पहाड़ों पर जमीनों को खेती योग्य बनाने के लिए सीढ़ियां बनाना पड़ता था। यहां तक कि उनकी मेहनत से तैयार होनेवाले छोटे छोटे खेतों पर भी उनका नियंत्रण नहीं होता था। पहाड़ों में भूमि ही जीवन होती है और भूमि राजा की संपत्ति होती थी। इस तरह वह जीवन सुरक्षा, संपत्ति और प्रतिष्ठा—हर

वस्तु का नियंता होता था। लोग उसके प्रति मूक निष्ठा रखते थे और सत्ता—निजी, सामंती और धार्मिक—पूर्णरूपेण उसी की होती थी।

इन राज्यों की अर्थव्यवस्था उनके प्राकृतिक संसाधनों पर तथा राजाओं द्वारा उनके विकास के ढंग पर निर्भर होती थी। आकार, जंगलात और व्यापारिक मार्ग इन रजवाड़ों की अर्थव्यवस्था को निर्धारित करते थे। तड़क-भड़क के प्रदर्शन में ये शासक एक दूसरे के लिए अपने साधनों से अधिक धन खर्च करते थे। फलस्वरूप वे कर्जों में फंस जाते थे और फिर इन कर्जों को अदा करने के लिए अपनी प्रजा को और भी लूटते थे। नतीजा यह होता था कि जो राज्य जितना छोटा होता, उतना ही अल्पविकसित होता। इसके अपवाद एक-दो राज्य ही थे जिनके शासक प्रबुद्ध थे। इनमें कुछेक ही थे जिनका वार्षिक राजस्व छह लाख रुपये से अधिक होता था।

हिमाचली लोकगाथा एक सरदार के खिलाफ दूसरे की वीरता की कहानियों से भरी पड़ी है। लेकिन इनमें शायद ही ऐसी घटना का वर्णन मिले जिसमें उन्होंने मिलकर किसी बाहरी हमलावर का मुकाबला किया हो। आकार में छोटे और ईर्ष्या की आग में जल रहे ये राज्य हमेशा ही सर्वोच्च सत्ता के सामने झुक जाते थे। वास्तव में वे कभी कभी उसी सत्ता का संरक्षण भी मांगते थे। शायद नागरकोट (कांगड़ा) को छोड़कर इनमें कोई भी ऐसा राज्य नहीं जो राजस्थान के भूतपूर्व राज्यों जैसी वीरगाथाओं पर गर्व कर सके।

दसवीं सदी के अंत तक पश्चिमोत्तर भारत में मुस्लिम दबाव महसूस किया जाने लगा था। सुबुक्तगीन गजनी के सिंहासन पर बैठा था और हिंदू शाहिया राजवंश के जयपाल के राज्य की पश्चिमी सीमाओं से छेड़छाड़ कर रहा था। जयपाल का राज्य लामघन से लेकर कांगड़ा तक फैला हुआ था। अपने क्षेत्र पर मुसलमानों के कब्जों को रोकने के लिए जयपाल ने गजनी के सुलतान के खिलाफ कूच किया। लेकिन जब एक बर्फीले तूफान के कारण उसे मजबूर होकर वापस होना पड़ा तो उसे एक अपमानजनक संधि भी करनी पड़ी।

सुबुक्तगीन 997 ई० में मरा और उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। उसने सन् 1001 में पेशावर के पास जयपाल को बुरी तरह हराया। फिर भारत में उसने लूटपाट और तबाही के हमले शुरू किए। हिंदू शाहिया राजवंश की शक्ति को नष्ट करके उसने पंजाब को कब्जे में कर लिया था। लेकिन वह जयपाल के राज्य की बाहरी सीमा पर स्थित नागरकोट के भारी गढ़ को नहीं भूल सका जो अपने मंदिरों और अपनी संपत्ति के लिए विख्यात था। उसने सन् 1019 में कांगड़ा पर हमला किया, हमेशा की तरह मंदिरों की मूर्तियों को तोड़ा, लूट का धन जमा किया और पहाड़ों में आगे बढ़ने की बजाय वापस चला गया।

सन् 1025 में महमूद ने सोमनाथ के विशाल मंदिर को लूटा और उसी के आसपास पंजाब में हिंदू शाहिया राजवंश समाप्त हो गया। उसे महमूद ने अपने

राज्य में मिला लिया। कांगड़ा के पहाड़ी इलाके जालंधर के मैदानों से कटे हुए थे और उनका कटोच सरदार पहाड़ों तक ही सीमित रहा। उनकी सबसे शानदार संपत्ति नागरकोट का किला थी जो एक सुंदर पहाड़ी के कगार पर खड़ा है और तीन तरफ अगम्य चोटियों से घिरा हुआ है। इसकी दीवारें लंबाई में तीन कि० मी० से अधिक हैं। लेकिन उसकी शक्ति उसकी दीवारों के कारण उतनी नहीं है जितनी मिंझी और वाणगंगा नदियों के ऊपर उसकी सीधी चढ़ाई के कारण है।

महमूद गजनवी के धावे के बाद कोई दो सदियों तक पहाड़ी राज्यों को बाहरी हमलों से चैन मिलता रहा हालांकि वे एक दूसरे के खिलाफ षड्यंत्रों में लगे ही रहे। सन् 1337 में मुहम्मद बिन तुगलक ने नागरकोट के किले को जीता मगर उसके शासन के अंतिम वर्षों में यह किला दिल्ली के अधिकार से निकल गया। उसके उत्तराधिकारी फीरोजशाह तुगलक ने, जो सन् 1351 में गद्दी पर बैठा, कटोच राजा से अपनी सत्ता मनवाने का फैसला किया और नागरकोट के किले का घेरा डाल लिया। यह घेरा छह माह तक जारी रहा जब तक कि राय रूपचंद ने समर्पण नहीं कर दिया।

फीरोजशाह तुगलक का यह अभियान एक और कारण से भी महत्वपूर्ण है। उसे पास के विभिन्न विषयों पर संस्कृत के 300 ग्रंथ प्राप्त हुए जो पास के ज्वालामुखी मंदिर में सुरक्षित रखे हुए थे। उसने एक दरबारी कवि आज्जुद्दीन खालिद खानी से दलाइ-ए-फीरोजशाही शीर्षक से फारसी पद्य में इन ग्रंथों का अनुवाद कराया।

दिसंबर, 1398 में दिल्ली को लूटने के बाद तैमूर केवल 15 दिन राजधानी में ठहरा और फिर अपने मध्य एशियाई राज्य को वापस चला गया। लेकिन वापसी में उसने एक दूसरा रास्ता पकड़ा। उसने मेरठ को तबाह किया और हरिद्वार पहुंचा। फिर शिवालिक पर्वतश्रेणी के साथ साथ आगे बढ़ते हुए उसने कांगड़ा पर हमला किया। तैमूर के इस तूफानी हमले और फिर उतनी ही तेजी से वापसी के बाद कटोच राजा फिर अपने राज्य का स्वतंत्र शासक बन बैठा।

उसके बाद कोई दो सदियों तक अपेक्षाकृत शांति रही। सन् 1572 में गुजरात के अभियान से पहले अकबर ने अपने पंजाब के सूबेदार हुसैन कुली खान को आदेश दिया कि वह नागरकोट को जीतकर राजा बीरबल के सुपुर्द कर दे। हुसैन कुली खान ने नागरकोट पर घेरा डाला मगर पंजाब में इब्राहीम हुसैन मिर्जा के विद्रोह के कारण उसे यह घेरा उठा लेना पड़ा। किले पर राजा विधीचंद का झंडा लहराता रहा हालांकि उसके राज्य के एक अच्छे-खासे भाग पर राजा बीरबल ने अधिकार कर लिया।

बाकी सभी सरदार अकबर का अधिराजत्व स्वीकार करके उसे खिराज देते रहे। हरेक सरदार को गद्दी पर बैठने पर सत्तारोहण का शुल्क देकर मुगल सम्राट के अधिराजत्व को स्वीकार करना पड़ता था। बदले में उसे एक खरीता (सत्तारोहण की सनद) और एक खिलअत (सम्मानसूचक वस्त्र) दिया जाता था। सम्राट को हर साल

खिराज (शुल्क या कर) भी देना पड़ता था। अपनी निष्ठा के प्रदर्शन के लिए सभी सरदारों को अपने किसी रक्तसंबंधी को मुगल दरबार में बंधक के रूप में रखना पड़ता था। ऐसे 22 पहाड़ी राजकुमार थे जिनको मुगल दरबार में मियां नाम दिया गया था। इसके अलावा पहाड़ी राजाओं को समय समय पर मुगल शासकों को उपहार भी भेजने पड़ते थे।

अकबर के बेटे जहांगीर ने नागरकोट के अजेय दुर्ग का घेरा डाला और वहां की सेना ने भूखों मरने के बाद समर्पण कर दिया। यह घेरा 14 माह तक चला और नवंबर, 1620 में समाप्त हुआ जब राजा की सेना ने अपने भारी खजाने के साथ समर्पण कर दिया। जहांगीर इस उपलब्धि से बहुत प्रसन्न हुआ और एक साल बाद उसने किले का दौरा किया। उसने किले में एक मस्जिद भी बनवाई।

मुगलों के अधिराजत्व के दौरान शाही दरबार पहाड़ी सरदारों से उदार बल्कि सुहृदय व्यवहार करता रहा। जब तक वे मुगल सत्ता का सम्मान करते और नगद रकम कर के रूप में देते थे, उनको अपने इलाकों के कमोबेश स्वतंत्र शासन की छूट दी जाती थी।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद शक्तिशाली मुगल साम्राज्य का पतन आरंभ हो गया। जहां बड़े बड़े इलाके दांव पर लगे हों वहां उसके उत्तराधिकारी दूर दराज के महत्वहीन पहाड़ी राज्यों पर शायद ही ध्यान दे सकते थे। इसलिए पहाड़ी सरदारों ने इस स्थिति का फायदा उठाया और अपनी स्वाधीनता वापस पा ली। सबसे पहले घमंडचंद कटोच ने विद्रोह किया और अपने पूर्वजों के क्षेत्र कांगड़ा पर कब्जा कर लिया। यह देखकर कि कोई उस पर रोक लगानेवाला नहीं था, उसने गुलेर, जसवान, दातारपुर और सीवन के पड़ोसी क्षेत्रों की ओर पांव फैलाया। यहां तक कि उसने कुल्लू पर भी हमला किया और उसके कुछ इलाकों पर कब्जा कर लिया। इस उभरते हुए सितारे की प्रतिभा को देखकर अहमद शाह अब्दाली ने अपने आखिरी हमले के दौरान उसे जालंधर और पड़ोसी पहाड़ी क्षेत्रों का नायब सूबेदार बना दिया। घमंडचंद ने अपनी इस नयी स्थिति का पूरा पूरा लाभ उठाया और जालंधर, नूरपुर, गुलेर, नंदी, सुकेत पर तथा कुल्लू, चंबा और कोट केहलूर के कुछ भागों पर भी अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया।

राजा घमंडचंद की ये विस्तारवादी गतिविधियां बहुत दिनों तक नहीं चल सकीं। उसे रामगढ़िया सिख मिस्ल के प्रमुख जस्सासिंह ने हराया और सन् 1770 में कर देने के लिए मजबूर किया। अब घमंडचंद के सितारे गर्दिश में आ चुके थे। लेकिन उसने दुस्साहस, चालाकी, कूटनीति और धोखाधड़ी के बल पर कांगड़ा और पड़ोस के पहाड़ी क्षेत्रों में कटोच राजवंश के उदय का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1773 में घमंडचंद की मृत्यु हो गयी।

घमंडचंद के समय में कांगड़ा का प्रसिद्ध किला मुस्लिम सूबेदार नवाब सैफ

अली खान के हाथों में रहा जो अक्सर परिस्थितियों के अनुसार दिल्ली और काबुल के प्रति बारी बारी अपनी निष्ठा जताता रहता था। वह सन् 1774 में मरा तो घमंडचंद के पोते संसारचंद ने सुनहरा मौका समझकर कनहिया मिस्ल के जयसिंह से प्रार्थना की कि उसे किले को जीतने में सहायता दें। जयसिंह अब तक जस्सासिंह रामगढ़िया को पराजित कर चुके थे। जयसिंह एक भारी सेना लेकर कांगड़ा पहुंचे और धमकियों से समझा बुझाकर और रिश्वत देकर स्वर्गवासी नवाब के बेटे जीवां खान से किला खाली करा लिया। लेकिन उन्होंने इसे अपने पास रखने का फैसला किया। उसके बाद संसारचंद और कनहिया सरदार के बीच लंबी लड़ाई चली जो महाराजा रणजीतसिंह के हस्तक्षेप से एक समझौते के साथ समाप्त हुई। तय हुआ कि किला संसारचंद को दे दिया जाए मगर उसमें रखी सारी युद्धसामग्री जयसिंह को मिले।

किले पर अधिकार के बाद संसारचंद ने विस्तार की मुहिम शुरू की। उसने एक लड़ाई के बाद चंबा से रोहलू को छीना। फिर उसने कोटलेहर, सुकेत, मंडी, कुल्लू, जसवान, सीवन, गुलेर, पाटनपुर और बिलासपुर पर भी कब्जा किया। संसारचंद सन् 1790 तक शिमला पहाड़ियों के सरदारों को छोड़कर अधिकांश सरदारों को हराकर और उनमें से अनेकों को अधीनस्थ बनाकर अपनी शक्ति की चरमसीमा तक पहुंच चुका था।

उन्नीसवीं सदी के आरंभ में गोरखों ने अपने सुयोग्य और महत्वाकांक्षी कमानदार अमरसिंह थापा के नेतृत्व में यमुना सतलुज दोआबे में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद सन् 1805 में कांगड़ा पर हमला किया। संसारचंद से बदला लेने के इच्छुक दूसरे पहाड़ी सरदारों की सहायता से थापा ने किले पर घेरा डाला। संसारचंद ने महाराजा रणजीतसिंह की सहायता मांगी जो इस सहायता के बदले किले की मांग कर रहे थे। फिर राजा संसारचंद, राजा रणजीतसिंह और अमरसिंह थापा के बीच बहुत धोखाधड़ी चली। अंत में चतुर सिख योद्धा राजा और गोरखा सरदार, दोनों पर हावी हो गया। अमरसिंह थापा पीछे हटा लेकिन शिमला की पहाड़ियों में उसे नवोदित ब्रिटिश शक्ति से टकराना पड़ा जिसमें उसकी हार हुई। महाराजा रणजीतसिंह ने कांगड़ा को भी अपने प्रभावक्षेत्र में ले लिया। उन्होंने जसवान और दातारपुर पर भी अधिकार किया। नूरपुर, सीवन, चंबा, मंडी, कुल्लू, विलासपुर और गुलेर को खिराज देने के लिए मजबूर किया गया। संसारचंद ने पुरानी संधियों के हवाले देकर विरोध किया मगर वह व्यर्थ गया। उसे महाराजा रणजीतसिंह ने दो लाख रुपये प्रतिवर्ष का कर देने को कहा। वह सन् 1824 में तबाह होकर मर गया। इस प्रकार हिमाचल में एक स्वतंत्र हिंदू राज्य स्थापित करने के लिए उसके प्रयास समाप्त हो गये।

संसारचंद पहाड़ी राजाओं में कलाओं का सबसे बड़ा संरक्षक था। लेकिन सभी पहाड़ी राज्यों को एक झंडे के नीचे लाने के लिए उसके सारे प्रयास क्षुद्र सरदारों के षड्यंत्रों, महाराजा रणजीतसिंह के नेतृत्व में सिखों की नवोदित शक्ति और अमरसिंह

थापा के नेतृत्व में गोरखों की शक्ति के कारण व्यर्थ गये। दूसरी ओर भारत में नवोदित ब्रिटिश शक्ति शिमला से पहाड़ों में जारी इस सत्ता संघर्ष का तमाशा देखती रही। शिमला उनके लिए ग्रीष्मकालीन आरामगाह ही न था बल्कि सतलुज के पश्चिमी तट पर उस पार होनेवाली घटनाओं को देखने का झरोखा भी था।

पहाड़ों में अंग्रेजों का प्रवेश आंग्ल गोरखा युद्धों के बाद हुआ। नवोदित गोरखा शक्ति को अपने प्रसार के दौरान ब्रिटिश क्षेत्र के संपर्क में आना पड़ा जिसकी तराई क्षेत्र में उत्तरी सीमाएं अनिश्चित और अस्पष्ट थीं। गोरखों और अंग्रेजों के हितों के टकराव के कारण सन् 1814 में शस्त्रबल का प्रयोग अनिवार्य हो गया। यह लड़ाई सबसे पहले उत्तर प्रदेश में बुटवाल में शुरू हुई। लेकिन मई में सतलुज से पूरब के पहाड़ी राज्यों के सरदारों ने अमरसिंह थापा के खिलाफ अंग्रेजों से सहयोग का प्रस्ताव किया। कारण कि उनमें से कुछ को गोरखों ने सत्ताच्युत कर दिया था और दूसरों का निर्मम दमन किया था। उसके बाद एक प्रतिभापूर्ण अभियान शुरू हुआ जिसका नेतृत्व अंग्रेजों की तरफ से मेजर जनरल आक्टरलोनी कर रहा था। बुशहर, हिंदूर, केहलूर, सिरमौर, कुल्लू और दूसरे पहाड़ी राज्य उसकी सहायता कर रहे थे। अमरसिंह थापा को भारी हार खानी पड़ी। बाद में नवंबर 1815 में सुगौली में एक संधि हुई। इसके अनुसार गोरखों ने इन पहाड़ी क्षेत्रों पर अपने सारे दावे छोड़ दिए। अंग्रेज अब रंगमंच पर उतर चुके थे।

अंग्रेजों ने बाघल, हिंदूर, बिलासपुर, बुशहर और सिरमौर के राज्य उनके शासकों को लौटा दिए जो पूरी तरह या आंशिक रूप से गोरखों के कब्जे में थे। लेकिन उन्होंने रणनीतिक महत्व के कुछ इलाके अपने पास रखे। शिमला तथा कुछ और हिल स्टेशन और छावनियां गोरखा युद्ध की पैदावार हैं। इसके बाद सतलुज के पूरब और यमुना के पश्चिम के पहाड़ी राज्य अंग्रेजों के संरक्षण में आ गए जिन्होंने युद्धव्यय के रूप में उनसे भारी रकम वसूली। बाद में सर्वशक्तिमान ब्रिटिश शासन की ओर से उनको शिमला पहाड़ी राज्यों का नाम दिया गया। ब्रिटिश उनके झगड़ों का निपटारा करते थे और जब भी जरूरी हो उनके मामलों में हस्तक्षेप करते थे।

लेकिन सतलुज के पश्चिम के क्षेत्र की अलग ही कहानी थी। ये पहाड़ी राज्य महाराजा रणजीतसिंह के प्रभावक्षेत्र में थे। अंग्रेजों से उनका संबंध पड़ोसियों जैसा था हालांकि कभी कभी कुछ सरदार उनसे सिखों के आतंक के खिलाफ पनाह मांगते थे। कभी कभी शरणागत राजाओं की प्रार्थना पर अंग्रेज महाराजा रणजीतसिंह के सामने ये मामले उठाते थे। इस नवोदित साम्राज्य से दोस्ताना संबंध रखने के इच्छुक महाराजा रणजीतसिंह अधिकतर शिकायतों को मान लेते थे।

महाराजा रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद चले आंग्ल सिख युद्धों के कारण सारा संदर्भ ही बदल गया। जब सन् 1845 में नेतृत्वविहीन, उच्छृंखल और निडर खालसा सेना ने सतलुज को पार करके ब्रिटिश क्षेत्रों पर हमला किया तो सतलुज

के पश्चिम के अधिकांश पहाड़ी राज्यों के शासकों ने, जो महाराजा रणजीतसिंह की कब्जा और शोषण की नीति से बुरी तरह परेशान थे, अपनी इच्छा से अंग्रेजों को सहायता देने का प्रस्ताव रखा। यह देखकर कि सिख सतलुज के मोर्चे पर मैदानों के अंग्रेजों से युद्धरत हैं, इन पहाड़ी सरदारों ने उन तमाम चौकियों और क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया जो तब सिखों के परिचरों के कब्जे में थे।

कुछ सरदारों ने अपने एजेंटों के जरिये गुप्त रूप से अंग्रेजों के प्रति अपनी वफादारी प्रथम सिख युद्ध से पहले ही जताई थी जिसका अंत लाहौर की 9 मार्च 1846 की संधि के साथ हुआ था। इस संधि के अनुसार सिखों ने सतलुज के बायें तट का सारा इलाका तथा सतलुज और व्यास के बीच का जालंधर दोआब क्षेत्र अंग्रेजों को सौंप दिया था।

स्वाभाविक है कि पहाड़ी राज्यों के शासक अंग्रेजों से सुहृद नहीं तो उचित व्यवहार की आशा जरूर रखते थे जिनको उन्होंने युद्ध के दौरान नैतिक और भौतिक समर्थन दिया था। उनको आशा थी कि शिमला पहाड़ी के राज्यों की तरह ही उनके साथ भी सुलूक किया जायेगा और उनके अपने अपने पुश्तैनी अधिकारों को मान्यता दी जायेगी। लेकिन गोरखा युद्ध के समय गवर्नर जनरल रहे उदारवादी योद्धा लार्ड हेस्टिंग्स की जगह अब अर्थशास्त्री लार्ड हार्डिंग्ज भारत का भाग्यविधाता था और कोई भी ऐसा मौका नहीं चूकता था जो कंपनी के खजाने में वृद्धि करे। पहाड़ी सरदारों को उनके इलाके लौटाने की बजाय अंग्रेजों ने उनको अपने पास रखने का फैसला किया। कांगड़ा, गुलेर, जसवान, दातारपुर, नूरपुर, सुकेत, मंडी, कुल्लू और चंबा के राज्य अब अंग्रेजों के नियंत्रण में आ गये।

इससे अंग्रेजों के इरादों के प्रति पहाड़ी शासकों का मोहभंग हुआ और सन् 1848 के दूसरे सिख युद्ध के दौरान उनमें से कुछ, सिखों के लाहौर दरबार के उकसावे में आ गये। उन्होंने विद्रोह किया जिसके फलस्वरूप उनकी कठिनाइयां और भी बढ़ गयीं। कारण कि अब भारत का शासक लार्ड डलहौजी था जो अपने अधिग्रहण और राज्यलय के सिद्धांत (डाक्ट्रिन आफ लैप्स) के लिए कुख्यात था। लारेंस के नेतृत्व में भेजी गयी एक सेना ने कांगड़ा, नूरपुर, जसवान और दातारपुर के इस विद्रोह को कुचल दिया और उनके शासक कैदी बनाकर अल्मोड़ा भेज दिये गये। नूरपुर का एक बहादुर बेटा वजीर रामसिंह जिसने नगाड़ा बजाकर अपने राज्य की स्वतंत्रता का ऐलान किया था, एक कठिन शत्रु सिद्ध हुआ। लेकिन तब वह गिरफ्तार कर लिया गया जब उसके एक दोस्त ने गद्दारी करके उसे अंग्रेजों के हवाले कर दिया। उसे जलावतन करके सिंगापुर भेज दिया जहां उसने आखिरी दिन गुजारे। इस प्रकार सतलुज के पश्चिम के पहाड़ी राज्यों के अधिकांश इलाके सीधे सीधे ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आ गये जबकि 'वफादार' राज्यों जैसे चंबा, मंडी और सुकेत को पंजाब के पहाड़ी राज्य कहा जाता रहा।

सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के दौरान पंजाब के राजाओं की तरह पहाड़ी सरदारों ने भी अंग्रेजों से सहयोग किया। इसका एकमात्र अपवाद बुशहर का राजा था जिसने कमोबेश तटस्थ रवैया अख्तियार किया। महारानी विक्टोरिया की सन् 1858 की प्रसिद्ध घोषणा के बाद ब्रिटिश राजतंत्र ने भारत के शासन की सीधी जिम्मेदारी संभाली। इसी के अनुसार भारतीय राज्यों के प्रति अंग्रेजों की नीति को भी नयी दिशा दी गयी। जहां तक हिमाचल का सवाल था, दूसरे सिख युद्ध के दौरान विद्रोह करने के बाद कैदी बनाकर अल्मोड़ा भेजे गए कुछ राजाओं को वापस लौटने की आज्ञा दी गयी और उनकी जागीरें उन्हें वापस दे दी गयीं। राजा नूरपुर जैसे कुछ अन्य राजाओं की पेंशन बढ़ा दी गयी। सन् 1858 की घोषणा में स्पष्ट कहा गया था : 'हम अपने वर्तमान अधिकारक्षेत्र में कोई वृद्धि करना नहीं चाहते।' इसके बाद कुछ और उपाय भी किये गये। जैसे शासकों को पुत्र और उत्तराधिकारी गोद लेने की इजाजत दी गयी। इन सब बातों के कारण इन राजाओं का भय काफी हद तक जाता रहा।

सन् 1876 के कानून के तहत महारानी विक्टोरिया ने स्वयं को भारत की साम्राज्ञी घोषित किया। इंग्लैंड का शासक अब भारतीय राज्यों का अधिराज भी बन बैठा। ब्रिटेन वास्तविक सर्वशक्तिमान सत्ता बन बैठा और राजनीतिक विभाग के अंतर्गत कार्यरत राजनीतिक एजेंटों, रेजिडेंटों और रजवाड़ों के पर्यवेक्षकों के द्वारा उन पर अधिकाधिक नियंत्रण रखने लगा। यही स्थिति कमोबेश 15 अगस्त, 1947 को भारत के आजाद होने तक जारी रही।

क्षुद्र सरदारों के शासन में पहाड़ी जनता का जीवन देश के दूसरे राजाओं की अधिकांश प्रजा के जीवन से बदतर था। इन छोटी रियासतों के शासकों के पास विकासकार्यों के लिए न तो कोई इरादा था और न संसाधन थे। कुछ राज्य तो सिद्धांत के स्तर पर भी अपनी प्रजा को उच्च शिक्षा देने का विरोध करते थे कि कहीं वह नये विचारों से ग्रस्त न हो जायें। ये शासक तड़क भड़क के प्रदर्शन में मैदानों के अपेक्षाकृत धनी राजाओं की नकल करने के शौकीन थे। उनके घटते जा रहे और मामूली संसाधनों को देखते हुए यह तड़क भड़क कुछ अंग्रेज यात्रियों को घटिया और भौंडा लगता था।

प्रचलित प्रथा के अनुसार सारी भूमि राजा की संपत्ति होती थी। इस विशेषाधिकार का प्रयोग करके वह उत्तम भूमि अपने पास रखता था। उससे कम बेहतर जमीनें उसके परिवारजन, उसके रिश्तेदारों और कुलीन सामंतों को मिलती थीं। साधारण जनता को मामूली जमीनें ही मिलती थीं या बिलकुल नहीं मिलती थीं। बेठ (भूमि के बदले सेवा) और बेगार (बिना मेहनताने की मेहनत) प्राचीन काल से प्रचलित दमन के रूप थे जिसको जनता खामोशी से सहती रहती थी। विभिन्न अवसरों पर राजा जो वसूलियां करते थे उससे स्थिति असहनीय बन जाती थी। लेकिन देवताओं

के साथ अपने राजा को भी पूजनेवाली पहाड़ी जनता अधिकतर शांत रहती थी और अपनी हालत को ईश्वर की देन या पूर्वजन्म के पापों का फल मानकर स्वीकार करती थी।

एस.एन. स्टोक्स एक अमेरिकी मिशनरी थे जो बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में कोटगढ़ में रहते थे। एक पहाड़ी व्यक्ति की दशा का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं : "वह अक्सर प्रताड़ित होता है कभी कभी पीटा जाता है और उसके हितों को अनदेखा किया जाता है। पहाड़ी मनुष्य को धीरे धीरे पददलित करके बोझा ढोनेवाला पशु और दास बना दिया गया है। न केवल यह कि एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में उसके अधिकार छीन लिए जाते हैं और उसके काम में हस्तक्षेप किया जाता है, बल्कि जो लोग उसको सेवाकार्य के लिए मजबूर कर सकते हैं उनके साथ उसका संबंध अत्यंत पतित करनेवाला होता है।"

भ्रष्टकारी विदेशी प्रभावों से अपने राज्यों को बचाने के लिए ये राजा भारतीय और विदेशी, दोनों प्रकार के यात्रियों को एकसमान हतोत्साहित करते थे। चूंकि सड़कों और दूसरी सुविधाओं का अभाव था, इसलिए सिर्फ बहुत दुस्साहसी लोग ही इन निषिद्ध क्षेत्रों में पैदल यात्रा कर सकते थे। कुछ मामलों में यात्रियों को भारी चुंगियां देनी पड़ती थीं। भारतीय मैदानों से प्राकृतिक बाधाओं के कारण कटे हुए ये पहाड़ी लोग अभी हाल तक मध्यकालीन जीवन बिताते रहे थे। इसलिए आश्चर्य नहीं कि बाकी देश में चलनेवाले स्वाधीनता संघर्ष की यहां कोई गूंज नहीं सुनाई पड़ी हालांकि कभी कभी धीमी आवाजें यहां वहां जरूर सुनाई पड़ती थीं। सरदारों के तानाशाह रवैयों के खिलाफ उन प्रबुद्ध व्यक्तियों के वैयक्तिक असंतोष या अवज्ञा को विद्रोह कहा जाता और बेरहमी से कुचला जाता था, जो मैदानों में शिक्षा प्राप्त कर चुके थे या नौकरी के कारण वहां के लोगों के संपर्क में थे।

राज्य के एक भूतपूर्व मंत्री डा. वाई.एस. परमार आजादी से पहले भूतपूर्व सिरमौर रियासत में जिला और सत्र न्यायाधीश थे जहां से उनकी वफादारी पर शक करके बाहर निकाल दिया गया था। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जिनमें लोगों को और भी सख्त सजाएं दी गयीं थीं। सन् 1914-15 के दौरान मियां जवाहरसिंह, खरीगढ़ के राणा और दूसरे लोगों को मंडी में गदर पार्टी की शाखा गठित करने के आरोप में लंबी लंबी कैद की सजाएं दी गयी थीं।

अखिल भारतीय रियासती जनता सम्मेलन के लुधियाना अधिवेशन से प्रेरित होकर चौथे दशक में कुछ पहाड़ी लोगों ने राजनीतिक और सामाजिक कार्यकर्ताओं की गतिविधियों को समन्वित करने के उद्देश्य से शिमला पहाड़ी राज्य हिमालय रियासती प्रजामंडल की स्थापना की। ये कार्यकर्ता अक्सर राज्य के बाहर या भूमिगत रहकर अपनी गतिविधियां चलाते थे। 15 जुलाई, 1939 को धामी (शिमला से 18 मील दूर स्थित एक छोटी रियासत) के प्रजामंडल ने प्रस्ताव पारित करके शासक से

प्रार्थना की कि बेगार को समाप्त किया जाये, फसल बरबाद होने पर मालगुजारी में 50 प्रतिशत छूट दी जाये और राज्य में पूर्णरूपेण उत्तरदायी सरकार गठित की जाये। प्रजामंडल के एक प्रतिनिधिमंडल ने अगले दिन शासक से मिलना चाहा। धामी के हजारों लोग प्रतिनिधिमंडल के साथ मार्च करके रियासत की राजधानी पहुंचे। अपने नेता की गिरफ्तारी से क्रुद्ध भीड़ का खतरा समझकर पुलिस ने गोली चलाई। इसमें दो व्यक्ति मारे गए और कई दूसरे लोग घायल हुए।

धामी रियासत की दुखद घटनाओं की एक अनाधिकारिक जांच समिति ने अखिल भारतीय रियासती जनता सम्मेलन के तत्कालीन अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू को अपनी रिपोर्ट इस प्रकार दी : "पहले पांचवें दर्जे तक कोई सगोत्री संबंधी न होने पर किसी पुत्रहीन पुरुष स्वामी या विधवा की संपत्ति राज्य में मिला ली जाती थी। पुत्रियों या उनके पुत्रों को संपत्ति में कोई उत्तराधिकार प्राप्त नहीं है_ भालू, चीता, कक्कड़ों, गोरल मृग आदि जंगली पशुओं को जो फसल को बरबाद करते हैं, मारने की इजाजत नहीं है और जो व्यक्ति अपनी भूमि पर भी उनको मारता है उसे सख्त सजा दी जाती है। प्रति व्यक्ति 50 से 100 रुपये तक का जुर्माना आम बात है। इतना ही नहीं, पशुओं की तबाही से सुरक्षा पाने के लिए राणा से संपर्क करना भी एक गंभीर अपराध माना जाता है।"

समिति ने एक असाधारण उदाहरण भी दिया जो दिलचस्प था : "लगभग 13 वर्ष पहले फसल तबाह कर रहे एक जंगली भालू को मारने पर तीन व्यक्तियों पर 5 रुपये प्रति व्यक्ति जुर्माना किया गया था और पुरस्कार पाने के इच्छुक लंबरदार की प्रशंसा की गयी थी जिसने उनको मृत भालू के शरीर के साथ रियासत के मुख्यालय भेजा था। अजीब बात यह है कि दस वर्ष बाद वर्तमान राणा ने इस मुकद्मे की फिर सुनवाई की और 'मासूम भालू' के तीन 'हत्यारों' पर प्रति व्यक्ति 10 रुपये का तथा पुरस्कार की इच्छा से उनको रियासत के मुख्यालय भेजनेवाले लंबरदार पर 40 रुपये का जुर्माना लगाया। शाही परिवार में किसी विवाह के अवसर पर 2 से 50 रुपये तक और किसी मृत्यु के अवसर पर 1 से 5 रुपये तक की रकमें प्रजा से उनकी देने की क्षमता के अनुसार वसूली जाती हैं। राणा के परिवार में किसी की मृत्यु होने पर रियासत की स्त्रियों से शरीर के गहने उतार देने और पुरुषों से सर और मूंछों के बाल मुंडा लेने की अपेक्षा की जाती है। किसी को चारपाई पर सोने की इजाजत नहीं है। घी और मसालों में सब्जियां और अन्य व्यंजन पकाना मना है। प्रजागण अपने पुत्र पुत्रियों के विवाह का जश्न इस मृत्यु के एक वर्ष के अंदर नहीं मना सकते। उनसे यह भी आशा की जाती है कि विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों और पूजा पाठ के द्वारा मृतक की आत्मा को शांति पहुंचाएं और अगर कोई ऐसा करने से मना करे तो उस पर जुर्माना लगाया जाता है।

"मालगुजारी के अलावा एक रुपया मालगुजारी के पीछे चार आने वसूल किए जाते हैं। जमींदारों (काश्तकारों) की जमीनों को 'घसनी' (चरागाह) बना दिया जाता है और उसके सारे लाभ राज्य को प्राप्त होते हैं। अगर कोई व्यक्ति अपने परिवार की किसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए कोई वस्तु बेचता है तो बिक्री की रकम पर कर के रूप में प्रति रुपया एक पैसा वसूला जाता है। श्राद्ध के काल में, जो प्रतिवर्ष 16 दिनों तक चलता है, और वर्ष में दूसरे अवसरों पर प्रत्येक परिवार को राणा साहब को दूध भेजना पड़ता है। हाल ही में राज्य में कोई सात एक मील लंबी सड़क बनाई गयी है जिसमें राज्य के स्त्री पुरुषों से सुबह से शाम तक मेहनत करवाई गयी मगर कोई मेहनताना नहीं दिया गया। अगर कोई परिवार पुरुष सदस्यों को नहीं भेज सकता था या किसी परिवार में पुरुष सदस्य थे ही नहीं तो स्त्रियों को सड़क पर काम करना पड़ता था। यह सड़क अधिकतर राणा की मोटरकार के उपयोग के लिए है।"

दूसरी रियासतों में भी ऐसी ही या इससे भी बुरी दशाएं पायी जाती थीं। इनमें से अधिकांश राज्यों में प्रजागण को शासकों के सामने नंगे पांव मगर सर ढककर पेश होना पड़ता था। मैदानी राज्यों की दशाएं देख चुकनेवाले अभिजातजन और दूसरे लोग अधिकाधिक बेचैन तथा अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रहे थे। फलस्वरूप दशक के आरंभिक वर्षों में अधिकांश राज्यों में प्रजामंडल स्थापित हुए।

सिरमौर का पनझोटा आंदोलन जनता के मुक्ति संघर्षों में एक मील का पत्थर है। सन् 1942 में राजा ने अंग्रेजों के युद्ध प्रयासों में सहायता पहुंचाने के लिए जनता से भारी कर वसूलना आरंभ किया। इसके अलावा वह दूसरे विश्वयुद्ध में सर्वोच्च शक्ति की सहायता के लिए सेना में जवान भी भरती करना चाहता था। जब वह जबरी वसूली अपनी सीमा को पार कर गयी तो पनझोटा की जनता ने एक 'किसान सभा' का गठन किया और राजा से प्रार्थना की कि अधिकारियों के अत्याचारों के खिलाफ वह व्यक्तिगत रूप से उनकी दुःख भरी कहानियां सुने। जब शासक ने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की तो उन्होंने एक स्वतंत्र सरकार बना ली। उनका उत्साहवर्धक नारा था—भाई, दो ना पाई। यह विद्रोह बेरहमी से कुचल दिया गया, क्षेत्र को विस्फोटों से उड़ा दिया गया और अनेक कार्यकर्ताओं की संपत्ति जब्त कर ली गयी।

जब प्रजामंडल आंदोलन ने जोर पकड़ा तो सन् 1946 में विभिन्न राज्यों में मौजूद उसके घटकों ने विलय करके हिमालय पहाड़ी राज्य क्षेत्रीय परिषद् का गठन किया। डा. वाई.एस. परमार, पंडित पदमदेव, श्री शिवानंद रामौल और दूसरे लोगों के नेतृत्व में इस परिषद् ने पहाड़ी राज्यों के विलय और हिमाचल प्रदेश की स्थापना में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पंजाब के जो पहाड़ी राज्य आज हिमाचल प्रदेश के अंग हैं, उनकी कहानी अलग है। अंग्रेजों के सीधे नियंत्रण वाले कांगड़ा, कुल्लू और दूसरे राज्य भारत के स्वाधीनता आंदोलन के अंग थे। लाहौर के गवर्नर का प्रांतीय प्रशासन चौकस रहता था कि कांग्रेसी विचारधारा का प्रवेश इन क्षेत्रों में न हो जो अपनी गरीबी और सैनिक परंपराओं के कारण ब्रिटिश सेना में भरती के लिए सबसे उपयोगी इलाके थे।

तो भी कोई चीज दूर से दूर स्थित गांवों तक भी महात्मा गांधी के संदेश को पहुंचने से नहीं रोक सकी। मैदानों में पढ़ रहे या काम कर रहे पहाड़ी लोग इसे अपने साथ लेकर गये। हर जगह कांग्रेस कमेटियां गठित की गयीं और सन् 1927 में सुजानपुर तीरा में ताल पर हुआ राजनीतिक सम्मेलन स्मरणीय घटना बन गया। इससे बाबा कांशीराम जैसे नेता सामने आये जिनको 'पहाड़ी गांधी' कहा जाता था। लाहौर को केंद्र बनाकर चलनेवाले आतंकवादी आंदोलन में कांगड़ा और दूसरे पहाड़ी क्षेत्रों के लोग भी सक्रिय थे। प्रसिद्ध क्रांतिकारी और हिंदी लेखक यशपाल कांगड़ा के थे और शेरजंग सिरमौर के थे। चुनावों में कांगड़ा में हमेशा कांग्रेस का उम्मीदवार जीतता रहा।

स्वाधीनता के बाद अंग्रेजों का संरक्षण न रहने के कारण दूसरे राज्यों के शासक ताकत के बल पर जनता के असंतोष को अब और दबाकर नहीं रख सके। वे समय की धारा के सामने अपनी कमजोर स्थिति के प्रति सजग हुए। उन्होंने वार्ताओं और समझौतों का सहारा लिया। जल्दबाजी में कुछ सुधार किए गए और नाममात्र का लोकप्रिय शासन स्थापित हुआ। कुछ ने अपने राज्यों की स्वतंत्र स्थिति बनाये रखने के लिए बेतहाशा कोशिशें भी कीं। बिलासपुर के राजा ने सर्वोच्चता की समाप्ति की व्याख्याओं का सहारा लिया और इस बात का भी कि किसी भी राज्य को भारत या पाकिस्तान में शामिल होने का या अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करने का अधिकार था। इस प्रकार उसने इसी तरह की इच्छा व्यक्त की। ये सभी रणनीतियां जनता को उत्साहित नहीं कर सकीं। उन्होंने अपनी पहचान की तलाश शुरू कर दी, जो न तो उनके छोटे आकार के कारण संभव थी और न पंजाब में विलय से मिल सकती थी।

पहाड़ों की जनता मैदानी जनता के प्रति परंपरागत रूप से शंकालु और भयभीत रहती है। वे इन लोगों को या तो शासकों के कर वसूलनेवाले अधिकारियों के रूप में देखते आये थे या फिर ऐसे पर्यटकों के रूप में, जो उनकी जीवन पद्धति का कम ही सम्मान करते हैं और अक्सर उनका शोषण करते हैं। पंजाब में पहाड़ी राज्यों के विलय के प्रस्ताव जैसे ही रखे गए, उन्हें अस्वीकार कर दिया गया। कुछ राजा सौराष्ट्र के ढंग का संघ बनाना चाहते थे और उन्होंने सोलन में 26 जनवरी, 1948 को एक बैठक बुलाने का फैसला किया। लेकिन प्रजामंडल वालों ने उनके गुब्बारे की हवा

निकाल दी। 23 जनवरी, 1948 को शिमला में डा वाई.एस. परमार की अध्यक्षता में आयोजित एक जनसभा ने स्पष्ट रूप से कहा कि पहाड़ी राज्य आपस में विलय करके एक अलग प्रांत बनाएं और सारी सत्ता जनता को सौंप दें। 28 जनवरी को शासकों की सोलन की बैठक ने प्रस्तावित संघ के लिए संविधान बनाने के बारे में प्रस्ताव पारित किया। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी।

18 फरवरी, 1948 को प्रजामंडल ने सुकेत सत्याग्रह आरंभ किया जिसे जनता का भारी समर्थन मिला। सुबह को सत्याग्रहियों के एक छोटे से जत्थे ने राज्य में प्रवेश किया, जिसने रास्ते में शांतिपूर्ण आंदोलनकारियों की एक भारी भीड़ का रूप ले लिया। सुकेत के शासक ने उनकी मांगें मान लीं। यह आंदोलन आगे बढ़ता गया और दूसरे राज्यों में भी उसे नये नये समर्थक मिलते गये। हिमालय एक क्रांति से दहलता रहा और सप्ताह भर के अंदर तीन चौथाई राज्य एक भी गोली चलाए बिना आजाद करा लिये गये। एक के बाद एक, कई शासकों ने विलय के समझौते पर हस्ताक्षर किये और 15 अप्रैल, 1948 को हिमाचल प्रदेश मुख्य आयुक्त का प्रांत बना। इसमें छोटे बड़े 31 राज्यों का विलय हुआ था—चंबा, मंडी, सुकेत, बुशहर, खनेती, थेवग, माधन, घुंड, रतेश, बाघल, जुब्बल, रावी, ढाडी, भागट, कुमारसेन, भाजी, मेहलोग, बेलसों, धामी, कूठर, कुनिहर, मंगल, बेजा, दरकोटी, थेरोच, सांगड़ी और सिरमौर।

18 मार्च, 1948 को एक पत्र में सरदार पटेल ने लिखा : "अंतिम चरण में अर्थात् इस क्षेत्र में संसाधनों और प्रशासन के पर्याप्त विकास के बाद प्रस्ताव यह है कि इसका संविधान भी किसी अन्य प्रांत के संविधान जैसा हो। अंतिम उद्देश्य यह है कि यह क्षेत्र भारत के एक स्वायत्त प्रांत का दर्जा पा सके।" बाद में प्रदेश को राज्य का दर्जा दिलाने के संघर्ष के दौरान यही पत्र डा. परमार के तर्कों का प्रमुख आधार बना।

हिमाचल 15 अप्रैल, 1948 से मार्च, 1952 तक मुख्य आयुक्त का प्रांत रहा। फिर इसे एक उपराज्यपाल के अंतर्गत 'स' श्रेणी का राज्य बना दिया गया और एक लोकप्रिय सरकार का डा. वाई.एस. परमार के नेतृत्व में गठन हुआ। 1 जुलाई, 1954 को 'स' श्रेणी का विलासपुर राज्य इसमें मिला दिया गया। राज्य पुनर्गठन आयोग ने बहुमत से हिमाचल को पंजाब में मिलाने की सिफारिश की लेकिन आयोग के अध्यक्ष फजल अली चाहते थे कि विकास के उद्देश्य से इसे कुछ वर्षों तक अलग रखा जाये। संघीय सरकार ने उसके अलग अस्तित्व को स्वीकृति तो दी मगर उसकी विधानसभा को समाप्त कर दिया गया और यह संघीय क्षेत्र बन गया। 1 नवंबर, 1956 से 1 जुलाई, 1963 तक हिमाचल एक संघीय क्षेत्र बना रहा जिसके प्रशासक को उपराज्यपाल कहा जाता था। अंतिमोक्त तिथि को लोकतांत्रिक ढांचा फिर स्थापित किया गया और एक लोकप्रिय मंत्रिमंडल फिर बना।

सन् 1966 में जब पंजाब के पुनर्गठन का प्रश्न फिर से बहस का विषय बना तो पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों की जनता ने उन्हें हिमाचल में शामिल किए जाने की जोरदार मांग पेश की। उनकी मांग स्वीकार की गयी और पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र 1 नवंबर, 1966 को हिमाचल में मिला दिये गये। ये थे—शिमला, कुल्लू, कांगड़ा, लाहुल और स्पीति के जिले, अंबाला जिले का नालागढ़ क्षेत्र, होशियारपुर जिले की ऊना तहसील के कुछ भाग और गुरदासपुर जिले की पठानकोट तहसील। हालांकि पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों के मिल जाने के बाद हिमाचल का क्षेत्रफल पंजाब या हरियाणा के क्षेत्रफल से अधिक हो गया, मगर यह फिर भी एक संघीय क्षेत्र बना रहा। राज्य के दर्जे के प्रमुख प्रचारक डा. परमार के अनुसार इसे अभी भी 'समुचित स्थिति' प्राप्त न थी। यह स्थिति इसे 25 जनवरी, 1971 को मिली जब तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने संघ के अठारहवें राज्य के रूप में इसका उद्घाटन किया।

4

सांस्कृतिक धरोहर

अनेक लहरों में प्रवासियों के आगमन के कारण विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं ने हिमाचल प्रदेश के कला रूपों को समृद्ध किया है। बाहरी दुनिया से उसके अलगाव और संपर्क से बचने के श्रमसाध्य प्रयासों के कारण उसकी संस्कृति को एक प्रकार का अनोखापन प्राप्त हुआ है। उसकी जनता के सामाजिक व्यवहार, उनके नृत्य संगीत, उनकी कला और वास्तुकला, उनके मिथकों और विश्वासों, उनके अनुष्ठानों और पूजा पाठ को एक विशिष्टता प्राप्त हुई है। उनकी जीवनशैली में कोलोरी, बोन, हिंद आर्य और लामा आस्थाओं, लोकतांत्रिक खसों और कुलिंदों की परंपराओं, शूरवीर राजपूतों के रीति रिवाजों तथा हूणों और गुज्जरों की घुमक्कड़ सहजवृत्तियों का मिश्रण हुआ है।

हिमाचल की जनता का एक बड़ा बहुमत हिंदू है। लेकिन उनका हिंदुत्व मैदानी जनता के हिंदुत्व से काफी हद तक भिन्न है। जनता हिंदू देवमंडल के परंपरागत देवी देवताओं में आस्था रखने के अलावा अपने ग्रामदेवताओं में भी अटूट बल्कि अंध आस्था रखती है। उनका 'ग्रामदेवता' चाहे कोई दिव्यशक्ति हो, कोई नायक हो या कुछ और हो, उन्होंने अपनी परंपरागत पूजा विधियों को बचाकर रखा है। यह देवता तमाम ग्रामीणों के लिए भय और प्रेरणा का स्रोत होता है, जो उसके मंदिर में साझी पूजा के लिए जमा होते हैं। विभिन्न अवसरों पर और मेलों त्यौहारों के समय इन देवताओं को पालकी में बिठाकर ले जाया जाता है। स्थानीय बाजे बजानेवालों के पीछे पालकी उठानेवाले किसी गांव या मेले में प्रवेश करते या वहां से निकलते हैं तो 'देवताओं' को अपने कंधों पर रखकर नाचते हैं। समय पर वर्षा, अच्छी फसल या किसी अन्य कृपा के लिए इन देवताओं की पूजा की जाती है।

हिमाचल के आरंभिक निवासी एक प्रकार के शैव धर्म का पालन करते थे। शिव की यह पूजा मोहेनजोदाड़ो की सभ्यता से ली गयी थी या स्थानीय मूल की थी, यह बात निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती। खैर चाहे जो हो, शिव सबसे अधिक लोकप्रिय देवता हैं और उनको महासू, मणि महेश, रूलडुंग, बैजनाथ आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। शिव के बाद शक्ति का संप्रदाय आता है जिनको दुर्गा, काली, भीमाकाली, चिंतपूर्णी, ज्वालामुखी, नैनादेवी, पार्वती, व्रजेश्वरी, शीतला, मृकुलादेवी, महादेवी और त्रिपुरा सुंदरी कहा जाता है। हिमाचल में नाग पूजा का

भी महत्वपूर्ण स्थान है या 'नागदेवता' के अनेकों मंदिर मौजूद हैं। विष्णु या कृष्ण का संप्रदाय मुख्यतः शहरों तक सीमित है। इसे राजपूत सरदार अपने साथ लाए और यह ऊंची जातियों का संप्रदाय ही बना रहा।

बौद्ध धर्म ने यहां लामावाद का रूप लिया। इसका पालन अधिकतर लाहुल, स्पीति और किन्नौर के सीमावर्ती जिलों में किया जाता है। लामावाद वज्रयान, तंत्रविद्या और तिब्बती पिशाचविद्या का मिश्रण है।

पौंटा साहब और रिवालसर में दो प्रमुख गुरुद्वारे हैं। दोनों का संबंध दशम गुरु गोविंदसिंह से है।

हिमाचल की कला की उत्पत्ति उसकी सांस्कृतिक धाराओं और धार्मिक आस्थाओं से हुई है। यह पहाड़ी मनुष्य के जीवन की बहुपक्षी वास्तविकताओं को प्रतिबिंबित करती है। यह उसके प्राकृतिक पर्यावरण से उसकी प्रतिक्रिया है। यह प्रकार्यात्मक भी है और सज्जाकारी भी। कभी कभी उसने कलाकृतियों की रचना की और उनकी पूजा करने लगा और कभी उसने इन्हें अपने स्वामियों और संरक्षकों के लिए रचा। लेकिन उसने हमेशा ही उनमें अपने हृदय और अपनी आत्मा को समोया। मोटे तौर पर इस कला को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—देसी और खस कला, हिंद आर्य कला और हिंद तिब्बती कला। हालांकि ये तीनों अलग अलग धाराएं हैं मगर कहीं कहीं उन्होंने मिलकर एक गरिमापूर्ण समन्वय को जीवन दिया है जिसमें ताजगी भी है और आकर्षण भी। सौभाग्य से हिमाचल को अपने पड़ोसी मैदानों की तरह समय समय पर तबाहियों का सामना नहीं करना पड़ा जहां हमलावर गिरोहों के घोड़ों की टापों की आवाजें अक्सर सुनाई देती थीं। इसलिए उसकी कला अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रही है। वास्तुकला की कृतियां, पुराने मंदिर, लकड़ी की नक्काशी के काम, पत्थर की मूर्तियां, धातु की कृतियां, कांसे की कृतियां और चित्र काफी हद तक सुरक्षित बचे हुए हैं।

लकड़ी का काम

लकड़ी प्राचीनतम कला और वास्तुकला का आधार थी। जंगल कलाकार और भवन निर्माता को कच्चा माल देते और प्रकृति उनको आस्था, आवश्यकता की भावना और प्रेरणा देती। इसका परिणाम समृद्ध नक्काशी से युक्त सुंदर मंदिरों और मकानों के रूप में सामने आया है जो पहाड़ियों के कंगूरों पर और वादियों में बिखरे हुए हैं। खस शैली के मंदिर आमतौर पर लकड़ी और पत्थर के बने हैं और किसी गांव के केंद्र में या पहाड़ी के ऊपरी ढालों पर स्थित होते हैं। ये प्रायः चार प्रकार के होते हैं : पत्थर और लकड़ी के चौकोर तथा ढालू छत और बरामदे वाले मंदिर; पगौडा शैली में एक के बाद एक, लकड़ी की कई छतों वाले पत्थर और लकड़ी के चौकोर मंदिर; पत्थर और लकड़ी के मीनारनुमा मंदिर जिनका आधार वर्गाकार होता है और

छत ढालू होती है; तथा ढालू और पगौडा शैली की छतों का समन्वय। पगौडा शैली की वास्तुकला के कारण लोग आसानी से यह मान बैठते हैं कि यह चीनी प्रमाण है। लेकिन तथ्य यह है कि पगौडा शैली भारत से नेपाल के रास्ते चीन गयी थी। अपनी पुस्तक 'इंडियन आर्किटेक्चर' में पर्सी ब्राउन लिखते हैं : "चीन में नेपाली कलाकारों को आमंत्रित किया गया। वहां उन्होंने सातवीं सदी के मध्य में बीजिंग में प्रसिद्ध 'सफेद पगौडा' बनाया जैसाकि उस पर संस्कृत और चीनी में खुदे कुछ अभिलेखों से सिद्ध होता है।"

हिमाचल में लकड़ी की नक्काशी की परंपरा बहुत प्राचीन है। यह कुछ बहुत पुराने मंदिरों में सुरक्षित है जो किसी न किसी तरह मौसमों के उतार चढ़ाव और समय की मार से बच गये हैं। नक्काशी किये हुये दरवाजे, खिड़कियों की चौखटें, अग्रभाग, बारजे, पट्टियां और ताक इस कला के ऊंचे सौंदर्यात्मक मूल्य की कहानियां कहते हैं जो विविधतापूर्ण है और नक्काशी, जड़ाऊ काम, मुलम्माकारी, चित्रकारी और लाख के लेप जैसे अनेक ढंगों की सज्जा से युक्त है। साजसज्जा के अलावा देवी देवताओं की मूर्तियों ने कलाकृति के लिए मूलभाव प्रदान किये हैं।

धातु के काम

धातुकर्म की कला शास्त्रीय परंपरा से बहुत अधिक प्रभावित हुए बिना अस्तित्वमान रही है। धातु के आम सामानों के अलावा स्थानीय कलाकारों ने कुछ आकर्षक मुखौटो, मूर्तियों और कांस्य वस्तुओं के निर्माण भी किए हैं जो प्रदेश के मंदिरों की सजावट हैं। ये कलाकृतियां पहाड़ों के अज्ञात कलाकारों की परिपक्वता की प्रमाण हैं। मूर्तियां अधिकतर दो सुस्पष्ट शैलियों की हैं—त्रिआयामी और द्विआयामी। कांस्य कृतियां आमतौर पर छोटी हैं मगर वे गतिसूचक, शक्तिशाली और अच्छी आकृति की हैं।

मुखौटे धातुकला की प्रमुखतम और प्रतिनिधि कृतियां हैं। ये देवी देवताओं के प्रतीक बल्कि वास्तव में स्वयं देवी देवता हैं। अभिभूति और पूजा का पूरा हिमालय क्षेत्रीय लोकाचार इनमें समाहित है। आरंभिक काल में ये मुखौटे उन मंदिरों द्वारा बनवाए जाते थे, जो अपने देवताओं की पूरे आकार की और बड़ी मूर्तियों का खर्च नहीं उठा सकते थे। लेकिन आगे चलकर हर मंदिर ने उनको स्थापित किया, चाहे उसकी वित्तीय स्थिति कुछ भी रही हो। मुखौटों का एक भारी ऐतिहासिक महत्व भी है। कारण कि अनेक मुखौटों पर उनके निर्माण की तिथियां अंकित हैं जिससे विभिन्न कालों में प्रचलित शैलियों का ज्ञान होता है। ये मुखौटे अधिकतर देवताओं के सिरों और छातियों के खोखले आकार हैं जिन्हें स्थानीय कारीगरों ने फलकों के आकार में ढाला और छीला है। मेलों-त्यौहारों के दौरान इनको पालकियों में बाहर निकाला जाता है जिनके ऊपर छतरियां लगी होती हैं। कुछ मंदिरों में मुखौटे प्रमुख स्थितियों में जड़े हुए हैं।



हिमाचल में आपका स्वागत है



एक किन्नौरी महिला



पारंपरिक वेशभूषा में एक गद्दी युवक



हिमाचल की एक युवती



मिंजर मेला, चंबा



कुल्लू का विश्व प्रसिद्ध दशहरा



शिमला का एक दृश्य



रेणुका झील



किन्नौर का एक गांव



कुंजम दर्रा



गद्दी



सेव–हिमाचल प्रदेश, भारत का प्रमुख सेव उत्पादक प्रदेश



बुरुंश

खोखले मुखौटे धातु की पिटाई और उभारने की प्रक्रियाओं की उपज हैं। इनके विपरीत ठोस ढली मूर्तियां पहाड़ों की धातुकला की प्रमुख शैली का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह शैली संभवत: मध्यकाल में विकसित हुई जब धातु बहुतायत में उपलब्ध थी। इस काल की रचनाओं में सौंदर्यबोध की जगह धार्मिक प्रभाव अधिक दिखाई पड़ते हैं। बाद के काल में इन पर तांत्रिक विचारों का प्रभाव पड़ा और ये आदिम शक्ति का प्रदर्शन करने लगी हैं। और भी बाद के काल में उनमें शास्त्रीय प्रभावों का प्रवेश हुआ। ये कांस्य कृतियां पहले की देसी कृतियों से भिन्न हैं, आकार में बड़ी हैं, बनावट में कहीं अधिक पूर्ण हैं और सुंदर साजसज्जा से परिपूर्ण हैं। देसी मूर्तियां अधिकतर ग्रामीण मंदिरों में पायी जाती हैं जबकि शास्त्रीय प्रभावों से युक्त मूर्तियां ऐतिहासिक मंदिरों में दिखाई देती हैं जो अधिकतर नगरों में स्थित हैं।

मुखौटों, मूर्तियों आदि के अलावा स्थानीय धातुकर्मी चांदी की छतरियां, डंडे, मंदिरों के बर्तन और सबसे बढ़कर यह कि प्रभावशाली पहाड़ी बाजे बनाते रहे हैं। उदाहरण के लिए करनाल (लंबी नली जिसके एक सिरे पर फूल के आकार की तुरही होती है) और रणसिंघा (अंग्रेजी के 'एस' आकार की प्रसिद्ध तुरही)। ये चांदी के होते थे या तांबे के, यह बात उनको संरक्षकों से मिलनेवाले धन पर निर्भर थी।

पत्थरों की उपलब्धता ने कलाकार को एक संगतराश भी बनाया। उसने मंदिरों और महलों के दरवाजों के चौखटों, खंभों और तोरणों पर बारीक फूलदार नक्काशियां की हैं और इसके अलावा दीवारों पर अतिसुंदर आकृतियां उभारी हैं। मध्यकाल की देसी पाषाण मूर्तिकला अपने लोक अंतर्तत्व के कारण कच्ची है मगर उसमें स्वत: स्फूर्ति की कमी नहीं है। यहां भी प्रेरणा का स्रोत सौंदर्यबोध नहीं, धार्मिक प्रभाव है। बड़ी संख्या में पथरीले झरने भी पाये जाते हैं, खासकर चंबा क्षेत्र में। देवताओं की मूर्तियों, जो अपेक्षाकृत भोंडी हैं, के अलावा उन पर बहुत कुशलता के साथ सज्जा के लिए नक्काशी की गयी है। कुछ पथरीले झरनों पर खुदे अभिलेखों से पता चलता है कि इनको सामान्य जनसेवा के उद्देश्य से अधिक राजाओं के पुण्य कार्यों के स्मारकों के रूप में बनाया गया था।

हिंद आर्य कला

हिमाचल को हिंद आर्य कला से सबसे पहले अशोक ने परिचित कराया था, जिसने दो स्तूप बनवाए थे—एक कुल्लू घाटी में और दूसरा संभवत: पौंटा घाटी में। कनिंघम के अनुसार फीरोजशाह तुगलक दूसरे स्तूप को ही दिल्ली ले गया था और उसे अब दिल्ली दरवाजे के पास फीरोजशाह कोटला में देखा जा सकता है।

बाद में कला की कुषाण बौद्ध परंपराओं ने पहाड़ी क्षेत्रों, खासकर कांगड़ा को प्रभावित किया जहां कुछ प्राचीन बौद्ध मंदिरों (चैत्र) के अवशेष पाये गये हैं। विभाजन से पहले फतहपुर (नूरपुर तहसील) में कांसे की एक बौद्ध मूर्ति पाई गई और अब

यह लाहौर संग्रहालय (पाकिस्तान) में है। कुल्लू के एक प्राचीन बौद्ध कक्ष में स्थित एक 'लोटा' अब भारतीय संग्रहालय में रखा हुआ है।

लेकिन भारत में कुषाणों के पतन के बाद यूनानी गांधार भारतीय प्रभाव मिट गये। भारतीय कला के दृश्यपटल पर कुछ समय बाद जो नयी शक्ति उभरी वह गुप्त साम्राज्य की शक्ति थी जिसका काल हिंदू पुनरुत्थान और बौद्ध धर्म के पतन का काल है। गुप्त कला ब्राह्मणवादी विचारधारा और बड़े नगरों के उच्च वर्गों (नागरिकों) के सौंदर्यशास्त्रीय विचारों की उपज थी। इसीलिए यह कला 'नागर' कहलाई। यह शब्द हिमाचल समेत समस्त उत्तर भारतीय वास्तुकला के लिए प्रयुक्त होता है। गुप्त कला के आदर्श सामंतों, नगरसेठों, गणिकाओं, संगीतकारों, कवियों और विद्वानों से प्रेरित थे और उसे मंदिरों, भवनों और मूर्तियों के माध्यम से कलाकारों की एक नयी पीढ़ी ने परवान चढ़ाया। इन कलाकारों ने पिछले कलारूपों को या तो त्याग दिया था या नवोत्थान की आवश्यकताओं के अनुसार इतना बदल डाला कि वे पहचान के योग्य नहीं रहे। इस प्रकार यह कला एक चेतन, अनुशासित और व्यापक कला थी जिसमें मध्यवर्गों के नए लोकसंप्रदायों की बारीकियां भी मौजूद थीं।

लेकिन यह कलारूप हिमाचल में खासे अंतराल के बाद पहुंचा जबकि हर्ष भी भारत के रंगमंच से बहुत पहले जा चुका था। तब भारत अनेकों राजपूत रजवाड़ों में बंटा हुआ था जो बारी बारी उभरते और मिटते रहते थे, आपस में मिलते, बिखरते और फिर मिलते रहते थे। जब एक के बाद एक, कई राजे मुस्लिम हमलों से शरण लेने या नये राज्य स्थापित करने हिमाचल में पहुंचे तो यहां भी इन राजपूत राज्यों की शाखाएं फूटने लगीं। वे अपने साथ गुप्त या नागर कलारूप लेकर आये। इस प्रकार हिमाचल में पाये जानेवाले सुंदर नागर या शिखर मंदिरों के पीछे गुप्त कला की परंपराएं हैं। आठवीं से तेरहवीं सदियों के बीच बने ये मंदिर दो प्रकार के हैं : एक कक्षीय प्रकार के और वे जिनमें मंडप पाये जाते हैं।

मंदिरों की कला

पूरे राज्य में इन दो प्रकार के अनेकों मंदिर हैं लेकिन इनमें जो उल्लेखनीय हैं वे इस प्रकार हैं—मसरूर के मंदिर, बैजनाथ मंदिर, चंबा का लक्ष्मीनारायण मंदिर, ब्रह्मौर के मंदिर, लाहुल का त्रिलोकीनाथ मंदिर, हाट बजौरा का बशेश्वर महादेवी मंदिर, दशाल (कुल्लू जिला) के गौरीशंकर मंदिर, हाट कोटी मंदिर (जिला शिमला) और त्रिलोकीनाथ तथा अर्धनारीश्वर मंदिर (मंडी)।

मसरूर (कांगड़ा) के एकाश्म मंदिर हिमाचल ही नहीं, संभवतः पूरे हिमालय क्षेत्र में नागर शैली के सबसे पुराने उदाहरण हैं। चट्टानों को काटकर बनाये गये ये मंदिर आठवीं सदी के हैं। मसरूर के कटी चट्टानों से बने मंदिर, जैसे अधिकतर दक्षिणी और पश्चिमी भारत में पाए जाते हैं, विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कारण कि पत्थर

काटकर बनाने की यह शैली हिमालय क्षेत्र में प्रचलित नहीं थी। शिखर प्रकार के 15 मंदिरों का एक समूह है जो मूर्तिकला की साजसज्जा से अच्छी तरह सुसज्जित है। ठाकुरद्वारा नाम से विख्यात मुख्य मंदिर में राम, लक्ष्मण और सीता की पत्थर की मूर्तियां हैं जो लगता है कि बाद में बिठाई गयीं। पुरातात्विक साक्ष्यों से ये मंदिर मूलतः शिव को समर्पित लगते हैं।

वैद्यनाथ (शिव) को समर्पित बैजनाथ मंदिर बैजनाथ (कांगड़ा) में स्थित है जिसे प्राचीन काल में किरग्राम कहा जाता था। यह किरातों की सुप्रसिद्ध राजधानी थी जिन्होंने 40 वर्षों तक आर्यों का मुकाबला किया था। वर्तमान मंदिर तेरहवीं सदी के आरंभ में बना था मगर उन्नीसवीं सदी में राजा संसारचंद ने इसका पुनरुद्धार कराया। इस मंदिर में अद्यतुम है (जिसमें लिंग स्थापित है जिसको वैद्यनाथ कहा जाता है) जिसके ऊपर आम शंक्वाकार कुंडली है और एक मंडप (सामने का कक्ष) है। मंडप की छत चार भारी खंभों पर टिकी है। मंडप के सामने चार खंभों पर खड़ा एक राजसी दालान है।

कांगड़ा की घाटी में शिखर प्रकार के दूसरे अनेक मंदिर भी हैं लेकिन इनमें कांगड़ा के किले के लक्ष्मीनारायण, शीतला और अंबिकादेवी मंदिर तथा कांगड़ा नगर के ब्रजेश्वरी देवी और इंद्रेश्वर मंदिर उल्लेखनीय हैं।

चंबा का लक्ष्मीनारायण मंदिर एक कतार में खड़े पत्थर के छह मंदिरों में से एक है। इनमें तीन मंदिर विष्णु और तीन महादेव के हैं। प्रमुख मंदिर नारायण को समर्पित है। चंबा नगर के संस्थापक शैल वर्मन (920-40 ई०) द्वारा बनवाये गये इस मंदिर में लक्ष्मीनाथ की एक संगमरमर की मूर्ति स्थित है। एक मंदिर में गौरीशंकर की कांस्य मूर्ति को शैल वर्मन के पुत्र युगाकार ने स्थापित कराया था। चंबा में एक और विष्णु मंदिर भी है जिसे हरिराय मंदिर कहा जाता है। यह नक्काशी से अच्छी तरह सुसज्जित है। इसे ग्यारहवीं सदी में लक्ष्मण वर्मन ने बनवाया था।

नागर शैली के दो मंदिर ब्रह्मौर अर्थात ब्रह्मपुर (चंबा) की प्राचीन राजधानी में हैं। इनमें बड़ेवाले मंदिर को शैल वर्मन ने बनवाया था और यह मणि महेश (शिव) को समर्पित है। यह पत्थर का एक विशालकाय मंदिर है जिसका छत्ते जैसा शिखर मध्य प्रतिहार शैली का है। इसमें कोई स्थापत्य साजसज्जा नहीं है। ब्रह्मौर का छोटा मंदिर नरसिंह मंदिर कहलाता है। इसे युगाकार वर्मन की महारानी (940-60 ई०) ने बनवाया था।

त्रिलोकीनाथ या अवलोकितेश्वर (बोधिसत्व) का प्रसिद्ध मंदिर चंद्रभागा नदी की वादी (लाहुल) में स्थित है। मूल मंदिर को आठवीं सदी के आरंभ में ललितादित्य ने बनवाया था मगर उस सदी के अंतिम वर्षों में इसे पद्मसंभव ने बौद्ध मंदिर का रूप दे दिया। बाद में अनेकों बार इसकी मरम्मत कराई गई और पुनरुद्धार कराया गया और ऐसा लगता है कि आज की अवलोकितेश्वर की एक मीटर की लामावादी

संगमरमरी मूर्ति बारहवीं सदी से पहले की नहीं है। इस मंदिर की विशेषता यह है कि यह भारत में लंबे समय तक एक बौद्ध मंदिर ही बना रहा है। बोधगया के मंदिर के अलावा किसी और मंदिर की यह विशेषता नहीं है। यह पत्थर का बना मंदिर है और इसका शिखर छोटी और अंशतः अनढली ईंटों का बना है। इसका दालान दो भव्य स्तंभों पर टिका है और उसमें खूबसूरत नक्काशी की गई है। हिमालय के दुर्गम क्षेत्र में बने इस कलासमृद्ध मंदिर का ढांचा दुर्भाग्य से इसलिए खराब हो गया कि यह एक शेड जैसे एक ढांचे से घिरा हुआ है जिसे बाद में जोड़ा गया।

बशेश्वर महादेवी (विश्वेश्वर) का मंदिर दसवीं सदी में बना था और इसे पश्चिमी हिमालय क्षेत्र के सुंदरतम स्मारकों में गिना जाता है। यह शिखर मंदिरों की परवर्ती गुप्त परंपरा का एक अनूठा उदाहरण है। शिव को समर्पित यह मंदिर अठारहवीं सदी के एक हमले में बुरी तरह क्षतिग्रस्त हो गया। इस मंदिर में एक मोटी और उभरी हुई मीनार है जिसके सिरे पर पत्थर का एक सूर्यचक्र है। मंदिर की बाहरी सतह के ऊपरी भाग पर पुरातात्विक प्रकार की नक्काशी और निचले भाग पर सज्जात्मक प्रकार की नक्काशो की गयी है। इसमें गमलों और बेलबूटों की नक्काशी बार बार हुई है। इस मंदिर के पुरातात्विक काम सुविचारित, संतुलित और सुरुचिपूर्ण ढंग से पूरे किये गये हैं।

कुल्लू में शिखर शैली के अनेक दूसरे मंदिर हैं लेकिन दशाल का गौरीशंकर मंदिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि यह नागर वास्तुकला के दुर्लभतम उदाहरणों में से एक है। इसकी बाहरी दीवारें उभरी हुई आकृतियों और विस्तृत साजसज्जा से समृद्ध हैं। मंदिर के प्रवेशद्वार पर स्थित चैत्य तोरण में त्रिमूर्ति सिर बना है। इसी तोरण के ऊपर एक सिंह की बैठी हुई मूर्ति है, जिसकी आकृति अत्यंत रोचक है। प्रवेशद्वार के सामने उसी की तरफ मुंह किए नंदी बैल की मूर्ति है।

हाटकोटी (शिमला जिले में) पाबार नदी और बिशकुलटी की धारा के संगम के पास स्थित है। यह अपने प्राचीन नागर शैली के मंदिरों, स्थापत्य और लकड़ी की नक्काशी के लिए विख्यात है। इस वादी में बड़ी संख्या में मंदिर बने हुए हैं। कुछ मंदिरों की ऊंची दीवारों के निर्माण में पत्थर के भारी भारी टुकड़ों का उपयोग दिमाग चकरा देनेवाला है—इस अर्थ में कि ये टुकड़े उस जमाने में इतनी ऊंचाइयों पर ले जाये गये थे जब मशीनें नहीं थीं। पीतल के मिश्रधातु की चित्ताकर्षक ढंग से ढली हुई मूर्तियों के अलावा छतों में लकड़ी की समृद्ध और रंगबिरंगी नक्काशी इन मंदिरों की सबसे आकर्षक विशेषता है। इनमें देवी देवताओं की मूर्तियां बनी हैं। इनमें से हरेक को लकड़ी के एक अलग कुंदे से बनाया गया है और फिर अलग से नक्काशी किये हुए लकड़ी के चौखटों में जड़ दिया गया है। अधिकांश मंदिर दुर्गा (महिषमर्दिनी) और शिव को समर्पित हैं।

कहावत है कि काशी (वाराणसी) में आठ मंदिर हैं मगर मंडी में इक्यासी हैं। व्यास नदी के तट पर पूरे नगर में मंदिर बिखरे पड़े हैं। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण त्रिलोकीनाथ, पंचवक्ता और अर्धनारीश्वर मंदिर हैं। ये सभी शिव को समर्पित हैं। त्रिलोकीनाथ मंदिर को राजा अजबेरसेन की महारानी सुलतानदेवी ने (सन् 1520 में) बनवाया था। यह नागर शैली का मंदिर है जिसमें शिव की पत्थर की त्रिमुखी मूर्ति है। वे एक बैल पर सवार हैं और उनकी गोद में पार्वती बैठी हुई हैं।

पंचवक्ता मंदिर में शिव की पंचमुखी मूर्ति है। लेकिन सामने से केवल तीन मुख ही देखे जा सकते हैं। इस मूर्ति की दस भुजाएं हैं और यह अवलोकितेश्वर से कुछ मिलती जुलती है जिससे बौद्ध प्रभाव का संकेत मिलता है।

अर्धनारीश्वर मंडी का एक और कलासमृद्ध मंदिर है। इसकी पत्थर की मूर्ति शिव और पार्वती का प्रतीक है। इसका दायां आधा भाग शिव को और बायां भाग पार्वती को समर्पित है। शिव को जटाओं वाला, मानवमुंडों की माला पहने, एक सांप लपेटे, एक हाथ में एक वाद्य यंत्र और दूसरे में एक डमरू लिए हुए दिखाया गया है। पार्वती को एक मुकुट, एक झूमर और एक नथनी पहने दिखाया गया है। मूर्ति से जुड़े एक पत्थर के टुकड़े पर एक बैल और एक शेर खुदे हुए हैं जो इन दोनों की सवारियां हैं।

मूर्तिकला

हिमाचल की मूर्तिकला को तीन भागों में बांटा जा सकता है—पौराणिक और मानव मूर्तियां, पशुओं की मूर्तियां और कृषि से संबंधित औजार। पौराणिक पात्र अनेक मंदिरों में पाये जाते हैं मगर मानव पात्र बहुत थोड़े हैं। मानव मूर्तियां आमतौर पर द्वारपालों, गणों, गंधर्वों, सेवकों और कुछ राजपुरुषों के रूप में देखी जाती हैं। केवल अंतिम के सिलसिले में ही कलाकार ने अधिक स्वतंत्रता दिखाई है। दूसरे सिलसिलों में पुजारी ही मूर्ति के प्रकार के बारे में फैसला करते थे, दिव्य और दानवी या आध्यात्मिक पात्रों की विशेषताएं बतलाते थे और मूर्तिकारों को केवल निर्धारित विवरणों की व्याख्या करने की छूट होती थी।

हिमाचल के मंदिरों में पशुओं की मूर्तियां अधिक नहीं पाई जातीं। फिर भी वास्तुकला और मूर्तिकला में हाथी, बैल, शेर, परिंदे, मछलियां और सांप पाये जाते हैं। बैल का संबंध तो शिव से ही है क्योंकि नंदी उनकी सवारी है। शेर दुर्गा की सवारी है और कभी कभी उसे दानव महिषासुर पर झपटते दिखाया गया है। गरूड़ पक्षी विष्णु का वाहन है। हाथी केवल शोभा के लिये हैं। अनेक मंदिरों में सांपों के चित्र पाये जाते हैं। लेकिन ऐसे सबसे अच्छे चित्र मंडी के पंचवक्ता मंदिर में हैं। मछलियों के चित्र मसरूर और हाटकोटी के मंदिरों में खोदे गये हैं।

खेती के औजारों, पत्तों, लताओं और कभी कभी फूलों को भी खंभों पर खोदा गया है जिन पर गमलों और बेल बूटों के कुछ सुंदर उदाहरण अंकित हैं।

हिमालयपारी क्षेत्रों की मूर्तियों को छोड़ अधिकांश मूर्तियों का आधार ब्राह्मणवादी आस्थाएं हैं। लकड़ी, पत्थर और धातु की मूर्तियों में शिव और विष्णु अपनी पत्नियों पार्वती और लक्ष्मी, और कहीं कहीं दुर्गा, के साथ दिखाई देते हैं। यह शैली परवर्ती गुप्तकाल की शास्त्रीय कला की ओर बहुत कुछ झुकी हुई दिखाई देती है। लेकिन इसमें राजपूत कला के अपरिष्कृत तत्वों और स्थानीय लोकपरंपराओं के मिश्रण की झलक भी मिलती है। इसका परिणाम एक समन्वय के रूप में सामने आया है जिसे जनता की श्रद्धा प्राप्त है।

लकड़ी की शास्त्रीय शैली की मूर्तियां लखनादेवी मंदिर (ब्रह्मौर), शक्तिदेवी मंदिर (चतरारी), मृकुलादेवी मंदिर (उदयपुर), शिव मंदिरों और हाटकोटी में पाई जाती हैं। पौराणिक देवी देवताओं को दर्शानेवाली ऐसी अधिकांश मूर्तियां छतों, दीवारों और दरवाजों के चौखटों पर खुदी हुई हैं।

प्रदेश में पाई जाने वाली अधिकांश मूर्तियां पत्थर की हैं। इनमें से कुछ पर स्थानीय सादगी की छाप है जैसाकि मसरूर के आठवीं सदी के एकाश्म मंदिरों में देखा जा सकता है। मंदिरों में महिषमर्दिनी की मूर्तियां छैनी की काट और व्यवस्थित रेखाओं के अद्‌भुत उदाहरण हैं। नागर, जगतसुख और दशाल में अत्यधिक भव्यता वाली उल्लेखनीय मूर्तियां पाई जाती हैं जो सादगी से भरपूर हैं।

चंबा की विष्णु और लक्ष्मी की मूर्तियां दसवीं सदी की कृतियां हैं तथा परवर्ती गुप्तकाल की गरिमा और दृढ़ता तथा साथ में जगतमुखी राजपूत शैली के दर्शन कराती हैं। कुल्लू के एक मंदिर में कार्तिकेय की भारी कंधों और जटिल आकृति वाली मूर्ति तीक्ष्णता और संतुलन की कृति है। मंडी के त्रिलोकीनाथ मंदिर की कालीदेवी, भूतपूर्व शासक के निजी मंदिरों के महादेव, पांच मुखों वाले पंचवक्त्रा शिव, अर्धनारीश्वर तथा अन्य कई मूर्तियां उस मूर्तिकला के चिरंजीवी उदाहरण हैं जिनमें स्थानीय और लोक तत्व से भरपूर शास्त्रीय परंपरा समाहित है। इनकी सुंदरता बारीकी के काम में नहीं बल्कि अद्‌भुत सादगी में है।

धातुओं की मूर्तियां यांत्रिक ढंग से तैयार की गयी हैं मगर उनमें रचनात्मक ऊर्जा और कुशलता भी दिखाई देती है। हाटकोटी मंदिर की महिषमर्दिनी मूर्ति की तरह ऐसी कुछ मूर्तियां दुनिया की उत्तम धात्विक मूर्तियों में गिनी जाती हैं। सातवीं सदी में बनी यह सुंदर कलाकृति यथार्थवादी ढलाई और आदर्श गरिमा का समन्वय करती है। इसका एक एक अंग सटीकता और पूर्णता से तैयार किया गया है। पूरी कृति कोई तीन मीटर ऊंची और एक मीटर चौड़ी है जबकि प्रमुख अर्थात् महिषमर्दिनी की मूर्ति एक मीटर से थोड़ी सी अधिक ऊंची है।

चंबा जिले में ब्रह्मौर और चतरारी के मंदिरों में अष्टधातु की कुछ भव्यतम

मूर्तियां हैं जिनको राजा मेरू वर्मन के दरबार के अग्रणी कलाकार गुग्गा ने तैयार किया था। लखनादेवी, शक्तिदेवी, गणेश, नरसिंह और नंदी की मूर्तियां एक अद्‌भुत कलाबोध और कारीगरी के साथ तैयार की गयी हैं। इनके अलावा चंबा के हरिराय मंदिर में चंबा शैली में विष्णु की नवीं सदी की मूर्ति भी है।

यह अष्टधातु की एक भारी मूर्ति है। डा. मोतीचंद्र के अनुसार "पूरी दुनिया में इस प्रकार की किसी मूर्ति के अस्तित्व का ज्ञान नहीं है।"

चित्रकला

हिमाचल अपने मंदिरों और मूर्तियों से कहीं अधिक, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध चित्रकला शैली अर्थात कांगड़ा कलम या कांगड़ा चित्रकला संप्रदाय के लिए प्रसिद्ध है। बशोली और चंबा कलमों के बाद आनेवाली इस शैली की छाप कम से कम 35 संबद्ध शैलियों जैसे कुल्लू कलम, बिलासपुर कलम, गुलेर कलम, अरकी कलम, नूरपुर कलम, मंडी कलम आदि में दिखाई पड़ती है। इन शैलियों के नाम उन स्थानों के नाम पर पड़े हैं जहां उनका व्यवहार किया जाता था। इन सभी कलमों को सामूहिक रूप से पहाड़ी चित्रकला संप्रदाय कहते हैं।

कला के इतिहासकारों के बीच पहाड़ी चित्रकला संप्रदाय की उत्पत्ति भारी बहस का विषय रही है। कुछ ने इसे 'देसी' साबित करने की कोशिश की है जबकि दूसरों ने इसे 'मैदानों की राजपूत कला का मात्र उत्तरी विकास' बतलाया है। कुछ अन्य का तर्क है कि इसकी आदिम उत्पत्ति एक 'अज्ञात संप्रदाय' में है जहां पहाड़ी और मैदानी, दोनों तरह की चित्रकलाएं मूलतः विकसित हुई होंगी। कुछ अन्य आलोचकों के विचार में यह मुगल दरबार के उन कलाकारों की देन है जिन्होंने औरंगजेब की कट्टरता से भागकर पहाड़ों में शरण ली थी।

तथ्य यह है कि आरंभिक देसी, परवर्ती राजपूत तथा और भी बाद की मुगल जैसी विभिन्न परंपराओं के चित्रकारों के पारस्परिक समन्वय द्वारा एक नयी शैली उत्पन्न हुई जिसे पहाड़ी चित्रकला संप्रदाय कहा जाता है। आरंभिक देसी और राजपूत कला की दृढ़ता लगता है रेखाओं के अविरल प्रवाह में समा गयी है, जो मुगल कला की विशेषता है। पहाड़ी कलाकारों की श्रेष्ठता का कारण पहाड़ों के अलगाव, वहां की अपेक्षाकृत स्थिर परिस्थितियों, शांति, प्राकृतिक वातावरण, धार्मिक जीवन शैली तथा पहाड़ी सरदारों के दरबारों से प्राप्त सुरक्षा और संरक्षण को ठहराया जा सकता है। परिस्थितियों के अनुसार कलाकार एक राजा से दूसरे राजा की शरण में जाते थे और इस प्रकार विचारों और शैलियों का परस्पर विनिमय करते थे। कभी कभी राजा की पुत्री के दहेज के रूप में कलाकार भी उसके नये घर को भेजे जाते थे। इन मिलते जुलते तथ्यों के ही कारण पहाड़ी चित्रकृतियों की प्रमुख विशेषताएं एकसमान हैं हालांकि वे विभिन्न राज्यों में बनाई गयी थीं।

पहाड़ी चित्रकला को मोटे तौर पर लघुचित्र, भित्तिचित्र और पांडुलिपि चित्रण में वर्गीकृत किया जा सकता है। हाथ से बने कड़े कागज पर तैयार तथा एक निश्चित पृष्ठभूमि पर बनाये गये लघुचित्र बस्तों में या कपड़े में लिपटे बंडलों के रूप में रखे जाते थे। कभी कभी इनको शोभा के लिए दीवारों में कीलों से लगा दिया जाता था। पहाड़ी लघुचित्र दुनिया के सभी प्रसिद्ध संग्रहालयों में पाये जाते थे।

भित्तिचित्र मंदिरों तथा कुलीनों के महलों में बनाये जाते थे। चंबा, अरकी, दमताल, कुल्लू, मंडी, सुजानपुर तीरा और अनेक दूसरी रियासतों में इनके अनेकों उदाहरण पाये जाते हैं। रंगमहल, चंबा, सुलतानपुर महल और कुल्लू के भित्तिचित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में रखे गये हैं।

पांडुलिपियों का चित्रण अत्यंत लोकप्रिय था। पहाड़ी सरदारों के दरबारों में अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में अनेक पांडुलिपियां लिखी और चित्रित की गयीं। कुछ चित्रों में सोने का व्यापक प्रयोग हुआ है। सबसे अधिक लोकप्रिय पांडुलिपियां रामायण, महाभारत और भगवद्गीता की थीं।

पहाड़ी चित्रों के विषय धार्मिक और सामाजिक होते थे। धार्मिक विषय रामायण, महाभारत, पुराणों तथा साथ ही जयदेव कृत गीत गोविंद, बिहारी (सतसई) और मीराबाई, सूरदास और केशवदास के पदों के लिए जाते थे। राम और सीता तथा कृष्ण और राधा के संप्रदाय संस्कृत और हिंदी कवियों को प्रेरित करते थे। फिर इन्होंने ही पहाड़ी कलाकारों को सबसे अधिक प्रभावित किया। राम के शौर्य के कार्य, सीता के दुःख, कृष्ण के साहसिक कार्य, ये सभी चित्रों के लिए आकर्षक विषयों के समृद्ध स्रोत थे। इन सिद्धहस्त कृतियों में कृष्ण को विष्णु के अवतार ही नहीं बल्कि साधारण मानव के रूप में भी दिखाया गया है जो जनता का मित्र है, जो उनके कामों और सुखों में भाग लेता है। वह चरवाहों और ग्वालिनों की क्रीड़ाओं में उनके साथ भाग लेता है। वह गोधूलि बेला में गायों को वापस गांव में लाता है। वह मक्खन चुराता है, वंशी बजाता है, नाचता है, छेड़छाड़ करता है, कालिया नाग का सामना करता है, अपने एक मित्र (अर्जुन) का सारथी बनता है। संक्षेप में वह ऐसे सारे काम करता है जो साधारण जनता की कल्पना और कलापारखियों के सौंदर्यबोध को भाता है।

राम और कृष्ण के अलावा शिव और दुर्गा तथा उनके विभिन्न अवतार भी चित्रों के विषय हैं। शंकर, विरूपाक्ष, नटराज, गंगाधर, काली और महिषमर्दिनी को विभिन्न संदर्भों में दिखाया गया है। वैष्णव देवता नरसिंह और शैव देवता गणेश भी लोकप्रिय विषय रहे हैं।

मौसमी गतिविधियां पहाड़ी कलाकारों के लिए विषयों के समृद्ध स्रोत रही हैं। बारहमासा चित्रों में वह सब कुछ चित्र-रूप में दिखाया गया है जिसे कवियों ने पदों में व्यक्त किया है। ये प्रतिमास प्रकृति के परिवर्तन के साथ जनता के जीवन और

मनोस्थिति में होनेवाले बदलावों को दिखाते हैं। इसी प्रकार रागमाला प्रसिद्ध शास्त्रीय रागों के दृश्य और परिवेश प्रस्तुत करती है।

ये चित्र पहाड़ी जनता के सामाजिक जीवन की झलक भी दिखाते हैं। ये पहाड़ी राजाओं के दरबारी जीवन के अनेक विषयों को प्रस्तुत करते हैं। कुलीनों, शाही जुलूसों, संगीत नृत्य के समारोहों, सौंदर्य प्रसाधन और स्नान के दृश्यों, विवाह उत्सवों, शाही अभियानों, जश्न के अवसरों को पहाड़ी कलाकारों द्वारा चित्रित किया गया है। वह इन सभी गतिविधियों को एक गीतात्मक ढंग से व्यक्त करता है मगर इसमें यथार्थवाद कुछ कम नहीं है।

कांगड़ा राज्य से टूटकर बने गुलेर को पहाड़ी चित्रकला की अधिकांश कलमों (शैलियों) का जनक या उन्नतिदाता माना जाता है। सन् 1740 के आसपास नादिरशाह के हमले के बाद मैदानों से पहाड़ों की ओर कलाकरों का भारी देशांतरण प्रारंभ हुआ। इन शरणार्थी कलाकारों में कुछ गुलेर के शासक राजा गोवर्धनचंद (सन् 1744-73) की सेवा में आ गये, जो कला के एक महान संरक्षक थे। इन कलाकारों ने गुलेर में जो आरंभिक चित्र बनाये उनमें. असाधारण सादगी और आकर्षण पाया जाता है। लेकिन बाद में हिंदू महाकाव्यों के विषयों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने मुगल शैली का प्रयोग किया। यह शैली इस प्रकार परिपक्व और विकसित हुई कि समय के साथ स्थानीय परंपराओं, वातावरण, धार्मिक विश्वासों के रंग में रंग गयी। परिपक्वता के बाद गुलेर के कलाकार और उनके वंशज दूसरे पहाड़ी राज्यों में चले गये।

उन्हें कला का सबसे उदार हृदय संरक्षक राजा संसारचंद (सन् 1775-1823) के रूप में मिला जो महान स्वप्नदर्शी था और एक बड़े हिंदू धर्मावलंबी पहाड़ी राज्य के सपने देखता था। कांगड़ा में उनके निवास ने कला के कांगड़ा पूर्व चरण को जन्म दिया जो रामायण के चित्रों में दिखाई पड़ता है। कहते हैं कि कांगड़ा संप्रदाय का पूर्णरूपेण विकास सुजानपुर तीरा में हुआ जहां संसारचंद ने भागवत पुराण, गीत गोविंद, महाभारत, बारहमासा, सतसई आदि के विषयों पर चित्र बनाने के आदेश दिये।

रेखा की बारीकी, रंग की चमक और सज्जा के ब्यौरों की सटीकता कांगड़ा के चित्रों की प्रमुख विशेषताएं हैं। इन चित्रों का केंद्रीय विषय प्रेम है और इन भावनाओं को सुर, ताल, गरिमा और सौंदर्य से भरी एक गीतात्मक शैली में व्यक्त किया गया है। कांगड़ा के चित्रकार की दृष्टि में सबसे अधिक महत्व नारी सौंदर्य का है। वास्तव में कांगड़ा की घाटी के भूदृश्य चित्रण में उसका आकर्षण प्रतिबिंबित होता है। आनंद सी. कुमारस्वामी के अनुसार "भूदृश्य चित्रण में जो उपलब्धि चीनी कला की है वही उपलब्धि यहां मानव प्रेम के संबंध में है।"

अठारहवीं सदी में चंबा में गुलेर और बशौली के प्रभावों के अंतर्गत चित्रकला का एक समानांतर संप्रदाय विकसित हुआ जो उन्नीसवीं सदी में भी जारी रहा। लघुचित्र और भित्तिचित्र सामाजिक परिदृश्यों तथा महाकाव्यों, पुराणों और कृष्णलीला

के विषयों को भी प्रस्तुत करते हैं। इनमें से अनेक कृतियां उत्कृष्ट कोटि की हैं जिनमें "अपनी समग्रता में चित्ताकर्षक . . . . अतिसुंदर, लंबी व क्लांत स्त्रियों" का चित्रण हुआ है।

चंबा रूमाल

चंबा की कला का वर्णन चंबा रूमाल के उल्लेख के बिना पूरा नहीं हो सकता जो सूई धागे की कला का प्रदर्शन करता है। कागजों और दीवारों पर बनाये गये चित्र तो पूरी तरह पुरुष कलाकारों के सृजन थे, मगर कपड़ों पर बनाये गये चित्र मुख्यतः स्त्री समाज की प्रतिभा के सूचक हैं जिन्होंने कूची के प्रति पुरुषों के कौशल को ग्रहण करके कढ़ाई का रूप दे दिया। "कागज की जगह कपड़े, रंग की जगह धागे और कूची की जगह सूई को दे दी गयी।" इस अत्यधिक कलात्मक कृति को जो विश्राम के समय की आनंददायक रचना थी, विवाह संबंध या मित्रता के प्रतीक के रूप में भेंट किया जाता था। इस कला के सुंदरतम उदाहरणों में एक पर कुरुक्षेत्र का युद्ध चित्रित है जिसे चंबा के राजा गोपालसिंह ने उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश रेजीडेंट को भेंट में दिया था। अब यह विक्टोरिया एवं अलबर्ट संग्रहालय, लंदन में सुरक्षित है।

ये रूमाल आमतौर पर वर्गाकार हैं और इन पर दोरुखा तकनीक से कढ़ाई की गयी है। रूमाल में धार्मिक विषयों के अलावा विवाह समारोह, शिकार, नायक नायिका भेद और दूसरे लौकिक विषयों की भी अभिव्यक्ति की गयी है। रूमाल पहाड़ी लघुचित्र की विशेषताओं का अनुसरण करता है। इसे दीवार की शोभा के लिए, वेदी के ऊपर चंदोवा के रूप में या जन्म कुंडलियों को लपेटने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

गुलेर, कांगड़ा और चंबा कलमों के अलावा चित्रकला के कोई तीन दर्जन अन्य संप्रदाय भी हैं। ये अधिकतर उन जगहों के नाम हैं जहां इनका व्यवहार किया जाता था। हरेक संप्रदाय की अपनी विशेषताएं और विशिष्ट गरिमाएं हैं लेकिन वे सभी पहाड़ी चित्रकला संप्रदाय के सामान्य नाम से व्यक्त किए जा सकते हैं। यह संप्रदाय तब अतीत की वस्तु बन गए जब उसके संरक्षक इतिहास से विलुप्त हो गये और कलाकारों को अपनी कृतियों के लिए बाजार मिलने बंद हो गये। लेकिन अब राज्य हस्तशिल्प और हथकरघा निगम के द्वारा पहाड़ों की इस महान कला को पुनर्जीवित करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

हिंद-तिब्बती कला

किन्नौर और लाहुल-स्पीति का हिमालयपारी क्षेत्र हिंद आर्य और मंगोलाभ नस्लों और संस्कृतियों का मिलनस्थल रहा है। लेकिन यहां संस्कृति की एक अजीबोगरीब चक्रीय प्रक्रिया देखी जाती है। मूलतः बौद्ध मत भारत से तिब्बत में गया हालांकि

उसमें तांत्रिक अनुष्ठानों का पुट भी था। फिर वहां से तिब्बती (कुछ तो बौद्ध धर्म के मूल वाले) अनुष्ठानों और पिशाच विद्या को शामिल करके यह फिर हिमालयपारी क्षेत्र में वापस आया। इसका ऐतिहासिक दृष्टांत आठवीं सदी में भारतीय गुरु पद्मसंभव की तिब्बत यात्रा है जिन्होंने वहां बौद्ध मत को प्रचलित किया और फिर दो सदी बाद लाहुल-स्पीति और किन्नौर के क्षेत्रों में तिब्बती विद्वान रिन-चान-सांग-पो का निवास है जिन्होंने यहां महत्वपूर्ण विहार स्थापित किए जिनको आज भी जनता की श्रद्धा प्राप्त है।

रिन-चान-सांग-पो ये-शी-ओ द्वारा चुने गए कुछ युवकों में थे जिन्हें बौद्ध अध्ययनों के लिए भारत भेजा गया था। उन्होंने तिब्बत के राजसिंहासन को त्यागकर धर्म का मार्ग अपनाया था। उन्होंने तीन बार भारत की यात्रा की और यहां 17 वर्ष तक रहे। उनका अधिकांश समय किन्नौर के सतलुज वादी क्षेत्र में गुजरा जहां कहते हैं कि उन्होंने 108 विहार बनवाए। इनमें से अधिकांश बोधक के नेतृत्व में 32 कश्मीरी बौद्ध कलाकारों की सहायता से बनाए गये। ताबो (हिमालय-क्षेत्र का अजंता), कनाम, गामुर और धनकड़ के विहार उनसे जुड़े महत्वपूर्ण विहार हैं।

ताबो स्पीति नदी के तट पर निचली स्पीति वादी में स्थित है। इस मंदिर मे विभिन्न प्रकार के अभिलेख हैं जिनमें एक अभिलेख ऐतिहासिक है। ये लगभग 980 वर्ष पहले की स्थापना तथा उस घटना से जुड़े लोगों के बारे में बताते हैं। मंदिर के भवन मिट्टी की एक ऊंची दीवार से घिरे हैं। दिलचस्पी का केंद्र मुख्य मंदिर है जिसमें प्रमुख देवता की मूर्ति स्थापित है। यह वैरोचन की चतुर्मुखी सफेद पलस्तर वाली मूर्ति है जिसके नीचे रिन-चान-सांग-पो की दो मूर्तियां स्थापित हैं। किनारे की दीवारों के सहारे चार दूसरे बुद्ध हैं जिनमें से हरेक चार बोधिसत्वों से घिरा हुआ है। प्रवेशद्वार की दीवारों के सहारे चार देवियों की मूर्तियां हैं और दरवाजे के ठीक अंदर दो भयानक पुरुष मूर्तियां हैं। वैरोचन के पास स्थित देवगण की मूर्तियों के नीचे की दीवारों के चारों तरफ भित्तिचित्रों की शृंखलाएं हैं। बायीं दीवार के चित्र बोधिसत्व राजकुमार नोव सांग की और दायीं दीवार के चित्र शाक्यमुनि की कहानी कहते हैं।

धनकड़ के निकट ल्हा-कुन एक अन्य महत्वपूर्ण विहार है। रिन-चान-सांग-पो के समय में बने मूल नौ मंदिरों में आठ को सत्रहवीं सदी में मंगोलों ने ध्वस्त कर दिया और अब इनमें केवल एक बचा है। इस मंदिर के केंद्र में लकड़ी की वेदी पर लकड़ी की बुद्ध मूर्ति स्थापित है। नीचे तांबे और चांदी का बना, घी का दिया जलता है। अद्भुत कला की पांच पट्टियों में बुद्ध और अन्य दृश्यों को दिखाया गया है। इनके विषय बहुत स्पष्ट नहीं हैं।

'की' स्पीति वादी का सबसे बड़ा विहार है। यह स्पीति नदी के बायें तट पर खीबर और काजा के तट पर स्थित है। यह पहाड़ी किले जैसा दिखाई देता है। यह विहार संभवत: ग्यारहवीं सदी के आरंभिक भाग में बना था। इस पर अनेकों हमले

हुए लेकिन अपनी किले जैसी स्थिति के कारण यह अठारहवीं सदी तक बचा रहा। लेकिन सन् 1834 के डोगरा हमले के दौरान इस विहार को आग से भारी क्षति पहुंची। लेकिन इसकी चल संपत्ति समय पर भिक्षुओं के भाग जाने के कारण बच गयी जो उसे अंदरूनी पहाड़ों में लेकर चले गये थे। ऊपरी भवनों में एक बड़ी रसोई और दूसरे कमरों के अलावा पांच गोंपा भी हैं। ये गोंपा विहार के केंद्र बिंदु हैं। इनमें से हरेक में बुद्ध की एक प्रतिमा है जो अपने दंडवत उपासकों को करुणा की दृष्टि से देख रही है। मूर्ति के दोनों ओर लकड़ी के छोटे छोटे डिब्बों की कतारें हैं जिनमें तिब्बती ग्रंथ और भाष्य रखे गये हैं। दीवारें और पुस्तकें थंका (चित्रावलियों) से आधी ढकी हुई हैं। ये चित्रावलियां 'की' के समस्त अवशेषों में सबसे पुरानी और सबसे सुंदर हैं।

केंद्रीय कक्ष में पलस्तर की दो मूर्तियां हैं। एक मूर्ति युम चेनमो (देवी तारा) की और दूसरी श्यान रस्गजिंग्स (अवलोकितेश्वर) की है। मंदिर के सामने स्थित पुस्तकालय में कई अन्य मूर्तियां भी हैं।

स्पीति के विहार लामावाद के तीन विभिन्न पंथों का प्रतिनिधित्व करते हैं। की विहार गु-इंग-पा पंथ का, काजा विहार सा-स्क्या-पा पंथ और पीन विहार द्र-उग-पा पंथ का प्रतिनिधि है। ये विहार गांवों से दूर ऊंचे स्थानों पर स्थित विशाल भवन हैं। इनके केंद्र में सार्वजनिक कक्ष, मंदिर, जलपान कक्ष और भंडारघर स्थित हैं। भंडारघरों में सार्वजनिक संपत्ति के अलावा वस्त्र, शस्त्रास्त्र और मुखौटे, नगाड़े, वल्कलवस्त्र और केश के परिधान रखे जाते हैं जिनको भिक्षुगण धार्मिक नाटकों, नृत्यों और अन्य समारोहों के समय प्रयोग में लाते हैं।

कनाम (किन्नौर) में रिन-चान-सांग-पो के बनवाए सात छोटे बड़े विहार हैं। इनमें प्रमुख गोंपा गांव के ऊपरी सिरे पर स्थित है। विहार में 25 कक्ष हैं जिनमें लामावाद के विश्वकोशों कंजूर और तंजूर की प्रतियां रखी हुई हैं। मंदिर में स्थापित बुद्ध प्रतिमा गिल्ट कांसे की है जिसमें घुंडीदार नीले रंग के बाल दिखाई देते हैं।

पूह विहार भी ग्यारहवीं सदी में बनवाया गया था। इसमें बुद्ध की बैठी हुई पलस्तर प्रतिमा है। उनके शिष्यों सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की दो मूर्तियां हैं। इनके सामने बुद्धरत्न अवलोकितेश्वर की दो मूर्तियां हैं। इनमें एक पलस्तर की और दूसरी लकड़ी की है। यहां विभिन्न चित्रांकित तिब्बती पांडुलिपियां भी मौजूद हैं।

लाहुल में सबसे प्रसिद्ध और सबसे बड़ा विहार गुरु घंटाल का है जो चंद्र और भागा नदियों के संगम पर स्थित एक पहाड़ की चोटी पर है। कहते हैं कि इसकी स्थापना आठवीं सदी में पद्मसंभव ने की थी। यह पिरामिडाकार छतों वाला, लकड़ी का ढांचा है। इसमें बुद्ध की मूर्ति तथा पद्मसंभव ओर ब्रजेश्वरी देवी की लाख की बनी मूर्तियां हैं। इसमें लकड़ी की बहुत सुंदर नक्काशियां भी हैं। लेकिन भागा के दूसरे तट पर केलांग के सामने स्थित करदोंग का विहार सबसे लोकप्रिय है। इसकी

स्थापना लगभग 960 वर्ष पहले हुई थी लेकिन सन् 1912 में लामा नोरबू ने इसका पुनरुद्धार कराया।

चोरतेन या चैत्य हिमालय पार के लामावादी क्षेत्र में पाये जानेवाले भवनों का एक और उल्लेखनीय प्रकार है। यह स्तूप से व्युत्पन्न है और ऊंचे पहाड़ों में तब प्रचलित किया गया जब महायान नये विचार विकसित कर रहा था। बुनियादी ढांचा एक वर्गाकार चबूतरा है जिसके ऊपर एक गुंबद होता है। फिर सीढ़ियां होती हैं जो छतरी तक ले जाती हैं और छतरी के ऊपर सूर्य और चंद्र के संयोग के 'दो प्रतीक' हैं। ये आमतौर पर पवित्र स्थलों के पास पाये जाते हैं। इन भवनों का मूल कार्य बुद्ध या महान शिक्षकों के अवशेषों को संजोकर रखना था। लेकिन अब इनमें किसी भी पवित्र वस्तु को रखा जा सकता है। विश्वास किया जाता है कि ये भवन अपने बनवानेवालों को भारी पुण्य का अधिकारी बनाते हैं।

लाहुल-स्पीति और किन्नौर का काष्ठकर्म वास्तुकृतियों से प्रभावित हुआ। ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में जब अधिकांश महत्त्वपूर्ण विहार बनवाये गये, यह कला बहुत ऊंचे मानदंडों को छूने लगी। आरंभ में यह कश्मीर से लाये गये कारीगारों का काम था। उन्होंने लकड़ी के चौखटों को अपनाया जिनको जोड़ने के लिए कौशल आवश्यक था। ताबो, गुरु घंटाल और दूसरे विहारों में बल्कि पुराने भवनों में भी शहतीरों और पट्टियों पर सुंदरतम नक्काशियां पायी जाती हैं। बड़े विहारों के मंदिर हर प्रकार की काष्ठमूर्तियों से भरे पड़े हैं जिनके विषय धार्मिक एवं लौकिक हैं तथा नक्काशियां समृद्ध हैं। ये कृतियां समय के साथ जमा होती रहीं, अब उनकी तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती। पुस्तकों के लिए लकड़ी की नक्काशीदार जिल्दें, जादुई तीर और 'चोग्त्से' नामक नीची और मोड़ी जा सकनेवाली मेजें जिन पर लोग चाय पीते हुए पालथी मारकर बैठते हैं—काष्ठकला की कुछ अन्य असाधारण रूप से सुंदर कृतियां हैं।

आरंभ में धातुओं की अधिकांश प्रतिमाएं मैदानों से मंगाई जाती थीं। लेकिन ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में इन क्षेत्रों ने उन कश्मीरी कलाकारों के मार्गदर्शन में अपनी शैली विकसित की, जो विहारों को बनवाने और सजाने के लिए लाए गये थे। बाद में अष्टधातु की अनेकों मूर्तियां ढाली गयीं। कलाकारों ने सबसे शक्तिशाली चित्रण भयानक देवी देवताओं का किया है जो या तो दानव् बलों का हमला झेलने के लिए तैयार हैं या उनको नष्ट करने के बाद नृत्य कर रहे हैं। ये मूर्तियां महायान और वज्रयान के विशाल देव समूह को दर्शाती हैं।

मूर्तियों के अलावा चायदानिया भी चांदी की समृद्ध छिलाई दिखानेवाली पट्टियों से सुशोभित हैं। धातुओं का मिश्रण स्पीति और किन्नौर के धातुकर्मियों की विशेषता है। चायदानी की नली एक समुद्री दानव के जबड़ों से निकलती है जबकि हत्था एक ड्रैगन के आकार का है। इन क्षेत्रों में बने बर्तन और आभूषण ऊंचे दर्जे के

कला बोध और सौंदर्य भाव के सूचक हैं। प्रार्थना की घंटी, वज्र (दोरजे) और जादुई खांडा (पुर-बु) अन्य महत्वपूर्ण सुसज्जित वस्तुओं में से हैं।

इस क्षेत्र के चित्र धार्मिक हैं और जनता की आस्थाओं और आदर्शों को व्यक्त करते हैं। यह कला भी यहां ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में कश्मीरी कलाकारों द्वारा लाई गई जिन्होंने अपने समय की भारतीय शास्त्रीय कला के झरने से छककर पिया था। समय बीतने के साथ स्थानीय प्रशिक्षुओं ने उस शैली में एक प्रकार की रूप संबंधी सभ्यता का समावेश किया। ये विहार प्राचीन कश्मीरी शैली के भित्तिचित्रों और वस्त्रचित्रों से भरे पड़े हैं। जब मैदानों के, कश्मीर, तिब्बत बल्कि दूसरे पड़ोसी क्षेत्रों के बौद्ध धर्मोपदेशक और तीर्थयात्री अपने साथ थंके लाए तो हजारों चित्र यहां पहुंचे। इनको दीवारों पर लटकाया गया, मगर जैसाकि उनके नामों से स्पष्ट है, यात्री दुरात्माओं से सुरक्षा पाने के उद्देश्य से उनको लपेटकर अपने साथ ले आये थे। चारण भी इन चित्रावलियों का उपयोग उन घटनाओं के दृष्टांत प्रस्तुत करने के लिए करने लगे जिनका वे वर्णन करते थे।

प्रदेश को राज्य का दर्जा मिलने के बाद सरकार हिमाचल की सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा और उन्नति में पहले से अधिक रुचि लेने लगी।

संस्कृति और भाषा संबंधी गतिविधियों के समन्वय के लिए भाषा एवं संस्कृति विभाग स्थापित किया गया। पहले यह काम विभिन्न संगठन करते थे।

शिमला में एक राज्य संग्रहालय स्थापित किया गया जिसमें अनेकों चित्र, मूर्तियां, सिक्के और लकड़ी की नक्काशी के नमूने रखे हुए हैं। इसके अलावा चंबा के सन् 1948 में स्थापित भूरीसिंह संग्रहालय का आधुनिकीकरण किया गया और उसे एक नये भवन में स्थानांतरित किया गया। राज्य अभिलेखागार की स्थापना भी की गई जिनमें 10,000 से अधिक दस्तावेज जमा किए गए हैं। यह माइक्रोफिल्म तैयार करने और अस्तर चढ़ाने की तकनीकों का उपयोग करता है। धर्मशाला में महाराजा संसारचंद कला गलियारा निर्माणाधीन है।

भाषा एवं संस्कृति विभाग में रचनात्मक लेखन का एक पीठ भी स्थापित किया गया है। यह विभाग एक पहाड़ी हिंदी शब्दकोश भी तैयार कर रहा है। राज्य के ऐतिहासिक स्मारकों की देखभाल के लिए एक पुरातत्व विभाग भी स्थापित किया गया है।

5

मेले और त्यौहार

हिमाचली लोग जश्न के किसी भी अवसर का स्वागत करते हैं। पूरे प्रदेश में अनगिनत मेलों और त्यौहारों का आयोजन किया जाता है। लगभग हर गांव में एक मेला लगता है। गांवों के समूहों के लिए भी मेले लगते हैं और फिर पूरे क्षेत्र या पूरे जिले के लिए और भी बड़े मेले लगते हैं। अधिकांश मेले धार्मिक होते हैं लेकिन सामुदायिक और व्यापारिक मेले भी लगते हैं। वास्तव में हर प्रकार का मेला मूलत: सामाजिक मिलन या व्यापारिक जमाव का अवसर बन जाता है। स्थानीय देवता की उपासना के अलावा जोड़े बनाए और विवाह तय किए जाते हैं। कारीगरों और किसानों की वस्तुएं बिकती हैं। स्त्री पुरुष अपने सबसे सुंदर वस्त्र पहनकर पहाड़ियों के कगारों पर बैठकर और रंगों का मेला प्रस्तुत करते हुए कुश्ती के मुकाबले या नाच और गाने देखते रहते हैं जो निरंतर चलते रहते हैं।

मिंजर चंबा का मौसमी मेला है। यह वर्षा के होने और मक्का की बालियां निकलने का जश्न मनाने के लिए मनाया जाता है। यह अगस्त में लगता है और सुसज्जित घोड़ों और झंडों के परंपरागत जुलूस के साथ आरंभ होता है। चंबा के सभी भागों से बल्कि हिमाचल के दूसरे क्षेत्रों से भी लोग पैदल लंबी लंबी दूरियां तय करके सप्ताह भर का यह मेला देखने आते हैं। गद्दियों के प्रसिद्ध लोकनृत्यों के अलावा गाना बजाना और व्यापार भी खूब होता है। अंतिम दिन भक्तगण रावी नदी के किनारे वरुण देवता को मिंजर (मक्के की बालियां) और नारियल चढ़ाते हैं।

ब्रजेश्वरी मेला एक धार्मिक मेला है जो कांगड़ा जिले में नवरात्रि के दौरान वर्ष में दो बार लगता है। स्थानीय जनता के अलावा 'माता' के हजारों भक्त दूर दराज से चलकर इसमें भाग लेने आते हैं। अनेक लोग यहां अपने बच्चों के मुंडन संस्कार भी कराते हैं। देवी का पुराना मंदिर सन् 1905 के भूचाल में नष्ट हो गया था। उसकी जगह एक नया मंदिर बनाया गया।

ज्वालामुखी मेला भी साल में दो बार चैत्र और अस्सुज की नवरात्रि के दौरान लगता है। 'ज्वाला कुंड' में पवित्र अग्नि जलती रहती है और भक्तगण उसकी परिक्रमा करते हुए उसे अपनी भेंट चढ़ाते हैं। कभी कभी भक्तों की संख्या एक

लाख से अधिक हो जाती है। यह मंदिर बहुत प्राचीन मंदिर है लेकिन राजा संसारचंद और महाराजा रणजीतसिंह के काल में इसका पुनरुद्धार कराया गया था। इसका गुंबद चमकदार है। पास ही गोरखपंथी नाथों का केंद्र 'गोरख टिब्बी' है।

सुजानपुर का होली मेला अन्य स्थानों के होली मेलों से अलग है। लोकनृत्य, गीत, नाटक, कुश्ती के मुकाबले और खेलकूद राज्य के सबसे लंबे चौड़े मैदान में लगनेवाले इस मेले के कुछ आकर्षण हैं।

मंडी का सात दिनों का शिवरात्रि का मेला अपने ढंग का अनूठा और अपने रंगारंग वातावरण के लिए विख्यात है। भक्तगण सैकड़ों देवी देवताओं को पालकियों में ले जाते हैं। शिवरात्रि के दिन वे नाचते गाते हुए सुरुचिपूर्ण ढंग से सजाए गए नगर में प्रवेश करते हैं। राज माधव मंदिर (इस क्षेत्र के प्रमुख देवता के मंदिर) में दर्शन करने के बाद वे भूतनाथ मंदिर में भगवान शिव की आराधना करते हैं। इसी के साथ सप्ताह भर के उत्सव आरंभ होते हैं जो मनोविनोद, मेला, संगीत और नृत्य के अच्छे अवसर प्रदान करते हैं। अंतिम दिन से पहले जागरण आयोजित किया जाता है जिसमें 'गुरु' और 'चेला' आनेवाले वर्ष की घटनाओं की भविष्यवाणी करते हैं।

कुल्लू का दशहरा त्यौहारों में सबसे अधिक भीड़ आकर्षित करता है। यह अक्तूबर में कुल्लू के ढालपुर मैदान में आयोजित किया जाता है। इसका आरंभ रथयात्रा से होता है जिसमें इन उत्सवों के प्रमुख देवता रघुनाथजी को लकड़ी से पूरी तरह सुसज्जित रथ में ले जाया जाता है। यह यात्रा रावण पर विजय के लिए राम के अभियान की सूचक है। पूरे जिले से लाये गये हजारों पहाड़ी देवता सात दिनों तक चलनेवाले इन जश्नों में भाग लेते हैं। राज्य के सबसे रंगारंग और जोश भरे लोकनृत्यों के अलावा दूसरे मनोरंजन भी हैं जो दर्शकों को रोमांचित करते हैं। हर शाम एक नया मेला, एक नयी सनसनी और एक नयी गतिविधि लेकर आती है। आधुनिक नाटक, शास्त्रीय और सुगम संगीत जैसे कुछ नये कार्यक्रम भी अब परंपरागत सूची में शामिल हो चुके हैं। ये हाल में बनाये गये खुले नाटकघर में आयोजित किये जाते हैं।

लावी राज्य का सबसे पुराना व्यापार मेला है। इसे किन्नौर के प्रवेशद्वार रामपुर में नवंबर में आयोजित किया जाता है। मेले के दौरान कच्चा और अर्धसंसाधित ऊन, ऊनी कपड़ों, पट्टू और पट्टियों, नमदों, पशमीना, चिलगोजों, घोड़ों के बछड़ों, घोड़ों, खच्चरों और याकों का एक करोड़ रुपये से अधिक का व्यापार होता है। पूरे देश के खरीदार मेले के कुछ दिन पहले सतलुज के तट पर एक तंग वादी में स्थित रामपुर में पहुंचते हैं। यहां किन्नौर तथा शिमला, कुल्लू, लाहुल और स्पीति जिलों के दूर दराज के क्षेत्रों की लोक कलाओं का घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यह मेला 235 वर्षों से अपने संगठित आयोजन के लिए विख्यात है। अतीत

में स्थानीय लोग ऊंचे पहाड़ों से गडरियों और चरवाहों के वापस आने पर भारी आग जलाया करते थे। यह प्रथा आज तक सुरक्षित है। जहां दिन के समय सामानों की जोरदार सौदेबाजी देखी जा सकती है, वहीं रात के समय छोटी छोटी होलिकाओं के इर्दगिर्द लोकनृत्य और संगीत भागीदारों और तमाशाइयों को एकसमान आनंदित करते हैं।

नैनादेवी का मंदिर (विलासपुर जिला) गंगूवाल बिजलीघर से 8 कि० मी० दूर एक पहाड़ी की चोटी पर स्थित है। कोई एक लाख भक्त अगस्त में नैनादेवी के प्रसिद्ध मेले में भाग लेते हैं। कुछ भक्त तो जमीन पर लेट लेटकर रास्ता नापते हुए पूरी दूरी तय करते हैं।

रेणुका का मेला सिरमौर जिले में रेणुका झील के किनारे आयोजित होता है। दंतकथा है कि परशुराम की माता रेणुका ने अपने पति ऋषि जमदग्नि के शाप के कारण एक झील का रूप धारण कर लिया था। पास ही परशुराम का मंदिर है। विभिन्न मंदिरों में शोभायमान मूर्तियां नवंबर में लगनेवाले इस मेले में लाई जाती हैं। हजारों लोग उत्सवों में भाग लेते और झील में पुण्यस्नान करते हैं। पूरा क्षेत्र खेमों का एक चित्ताकर्षक दृश्य प्रस्तुत करता है जहां भक्तिगीत और लोकसंगीत पूरे उत्सव के दौरान गूंजते रहते हैं।

चिंतपूर्णी मेला ऊना जिले में दुर्गापूजा के एक प्रसिद्ध केंद्र पर लगता है। हर मंगलवार को लगनेवाले साप्ताहिक मेले के अलावा यहां हर साल तीन बड़े मेले भी लगते हैं। इनमें दो नवरात्रियों में और एक श्रावण अष्टमी को लगता है।

इनके अलावा दूसरे अनेकों मेले भी लगते हैं। विलासपुर, सुंदरनगर, जोगिंदरनगर और दूसरे स्थानों के नलवार लोकप्रिय पशु मेले हैं। अरकी, कुनिहर, मशोबरा और दूसरी जगहों के सेरी मेले भैंसों की लड़ाइयों के लिए विख्यात हैं जबकि सीपी, नारकंडा और रोहरू के मेले अपने आमोद प्रमोद और विशिष्ट पहाड़ी परिवेश के लिए विख्यात हैं।

हिमाचल की लोकगाथा लोकगीतों, नृत्यों, नाटकों, नृत्यनाटिकाओं और गेयनाटकों पर आधारित है। इसके अलावा यह आनंद का स्रोत है और ऐसी चमक दमक वाले दृश्यों का अंतहीन सिलसिला प्रस्तुत करती है जिससे चित्रकार, मूर्तिकार और लेखक प्रेरणा प्राप्त करते हैं। देवताओं तथा पहाड़ों के रहस्यमय निवासियों के बारे में प्रचलित पौराणिक दंतकथाओं के अलावा यह लोकगाथा विभिन्न कालों के इतिहास, सामाजिक जीवन और राजनीतिक दशाओं के हवालों में भी समृद्ध है।

इस मौखिक कला को हम सुविधा के लिए प्राचीन नायकों से संबंधित दंतकथाओं, परीकथाओं, दानवकथाओं, पौराणिक कथाओं, लोकनृत्यों, लोकगीतों, लोकनाटक, पहाड़ी नृत्यनाटिकाओं और गेयनाटकों में विभाजित कर सकते हैं। विशेषज्ञ संग्राहकों और विद्वानों के लिए तो कथाओं और दंतकथाओं का ही महत्व है कि वे भाषाशास्त्र,

पुरातत्व, मानवशास्त्र और धर्म के अध्ययन के लिए उनका प्रयोग कर सकते हैं। लेकिन लोकनृत्य, गीत, नाटक और नृत्यनाटिकाएं न केवल भागीदारों बल्कि स्थानीय और बाहरी लोगों के लिए भी दैनंदिन आमोद प्रमोद के विषय हैं।

लोकनृत्य संभवतः फसल की कटाई से जुड़े त्यौहारों की और प्राचीनकाल के अनुष्ठानों की उपज हैं जब संगीत और नृत्य के द्वारा देवताओं का आमंत्रण किया जाता था। प्राचीनतम कालों में अलग अलग और दूर दराज की पहाड़ियों का मनुष्य देवताओं और दानवों की भूमिकाएं संपन्न करते हुए अनुष्ठानों और नृत्यों के द्वारा इस और उस लोक के बीच की दूरी को पाटता था।

नृत्यों का आयोजन उत्सव के पहले या बुवाई या कटाई के मौसमों के बाद किया जाता है। लेकिन ये मेलों और त्यौहारों तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि सभी सामुदायिक आयोजनों या जमावों के समय स्वतःस्फूर्त रूप से किये जाते हैं। जैसे किसी विवाह, बच्चे के जन्म या किसी देवता की पूजा के समय। कड़ी मेहनत करनेवाले पहाड़ी अपनी मशक्कत भूलकर गीत नृत्य की प्रतियोगिता करते हैं। उनके लिए खुशी का हर अवसर मेले के आयोजन का पर्याप्त कारण होता है जहां वे अपने सुंदर कपड़ों और गहनों का प्रदर्शन कर सकते हैं, गपशप कर सकते हैं, छोटी छोटी वस्तुएं खरीद सकते हैं और सबसे बढ़कर यह कि नाच गा सकते हैं।

नृत्य एकल और सामूहिक, दोनों प्रकार के होते हैं। सबसे महत्वपूर्ण नृत्य नटरंभा 'नटी' है। इसे नगाड़ों, तालियों और गीतों की लय पर नाचा जाता है। रणसिंघा, करनल और शहनाई बीच बीच में संगीत देते रहते हैं। 'नटी' में बारी बारी एकल और सामूहिक नृत्य हो सकते हैं। जब सामूहिक नृत्य होता है तो बीसियों लोग एक घेरे में या जंजीर बनाकर नाचते हैं। इस कड़ी की गति चक्राकार भी हो सकती है और सर्पाकार भी।

माला, रास और छड़ी अन्य पसंदीदा लोकनृत्य हैं। कुल्लू के खड्‌गनृत्य में परंपरागत कसे हुए पाजामे और कुर्ते पहनकर, चमकीला धारीदार शाल ओढ़कर और काली, पंखदार टोपियां पहनकर पुरुष नर्तक नृत्य आरंभ करते हैं। इन टोपियों पर नीली प्रिम्यूला और पीली चमेली के फूल खूब सजे होते हैं। फिर ऊनी शाल ओढ़े हुए और अपने रंगारंग शिरोवस्त्रों (धातु) को पहने हुए स्त्रियां भी मैदान में उतर आती हैं। घेरा बनाकर स्त्री पुरुष आठ तालों की लय पर गोलाकार घूमते हैं और दाहिने हाथ में पकड़े हुए रूमाल को हिलाते रहते हैं। कभी कभी इसे जरा सा बदल भी दिया जाता है। तब चार कदम के बाद पांचवें में गति रोकी जाती है और फिर पैर की धमाधम के साथ तीन कदम उठाए जाते हैं। फिर यह समूह जब थोड़ी देर के लिए ठहरता है तो दो तीन नर्तक घेरे के बीच में आकर तलवार भांजते हुए नृत्य करने लगते हैं। वे बड़ी कुशलता के साथ हवा में बहुत तेजी से अपने हथियारों को गोलाकार भांजते हैं। यह नृत्य ढोलक, रणसिंघा, करनल और छोटी तुरहियों की

लय पर किया जाता है। संगीतकार गीत गाते हुए पुराने जमाने की वीरता को याद करते हैं और देवताओं की स्तुति भी करते हैं। आरंभ में अपेक्षाकृत धीमे और नपे तुले नृत्य में खड्ग नर्तकों के प्रवेश के बाद नृत्य की गति बढ़ जाती है और चरम पर पहुंचने तक बढ़ती जाती है।

लोकगीत अपनी मधुरता और आकर्षण के लिए विख्यात हैं। मोटे तौर पर पहाड़ी, झाईंझोटी, झूरी और लामें धुनों का प्रयोग किया जाता है। लेकिन सबसे उत्तर के किन्नौर, लाहुल और स्पीति जिलों में संगीत भिन्न प्रकार का होता है। संगीत के वाद्य भी अलग हैं।

राजधानी शिमला की गरिमा का वर्णन अनेक लोकगीतों में मिलता है क्योंकि ये चारों तरफ की पहाड़ियों के युवा प्रेमीगणों को आकर्षित करते हैं। इन गीतों में चरागाहों, पहाड़ों, चांदनी और धुंधरहित प्रभात का वर्णन मिलता है।

आमतौर पर प्रयुक्त वाद्य रणसिंघा, करनल, नफीरी, मंजीरा, ढोल, नगाड़े, दमामा, थाली, भाण आदि हैं। सभी मेलों, त्यौहारों, अर्पण अनुष्ठानों के आरंभ में बल्कि महत्वपूर्ण व्यक्तियों के आगमन पर भी बधाई की धुन बजाई जाती है।

लोकनाटक पहाड़ियों के पूरे व्यक्तित्व को समो लेते हैं। यह उनकी सारी बौद्धिक, भावनात्मक और सौंदर्यात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयास करता है। नगरीय और आधुनिक नाटकों के विपरीत इसमें संवादों के अलावा गीतों, नृत्यों और वाद्य संगीत का खुलकर प्रयोग किया जाता है। यह बहुमुखी दृष्टि ऐसे रूप को जन्म देती है जो आत्मपूर्ण है और संपूर्ण मनोरंजन है। लोकनाटक सिनेमा और मनोरंजन के दूसरे साधनों की प्रतियोगिता के बावजूद जीवित है। इसका कारण यह है कि यह पुराने विषयों को समकालीन दर्शकों और वास्तविकताओं की भाषा में ढालने में समर्थ है। इसमें विभिन्न तकनीकों का प्रयोग होता है। किसी अभिनेता की टिप्पणियां, उपदेशात्मक उद्‌बोधन और प्राचीन परिवेशों में आधुनिक पात्रों का सामने आना इसके लचकदार तरीके हैं।

करयाल, बंठरा या संग ग्रामीण नाटक के सबसे प्रचलित रूप हैं। इन सबमें अपनी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के प्रति ग्रामीण जनता की उल्लेखनीय जागरूकता का परिचय मिलता है। इन नाटकों का कथानक आमतौर पर ढीला ढाला और तालमेल के योग्य होता है। इसलिए इनमें नाटक के पात्रों की चतुराई और आशुकार्य की बहुत गुंजाइश पाई जाती है। यह कथानक प्रायः कुछ विशेष पात्रों के इर्दगिर्द बुना जाता है। किसी मैदान के बीच में उपलब्ध कोई भी स्थान जहां दो तीन फुट ऊंचे बांस गड़े हों और उनके गिर्द रस्से बंधे हों, लोकनाटक के लिए मंच का काम कर सकता है। दर्शक इस मंच के चारों तरफ बैठते हैं।

लोकनृत्यनाटिकाएं और गेयनाटक भी कुछ क्षेत्रों में खेले जाते हैं। इनको सिंह, और बूरा कहा जाता है और ये एक प्रकार की अलिखित कथाएं होते हैं जिनको

दूसरी कथाओं की तरह नृत्यनाटिका या गेयनाटक के माध्यम से कहा जाता है। पीढ़ी दर पीढ़ी चलनेवाली इन कलाओं में कुछ परिवर्तन भी हुए हैं लेकिन उनके मूलतत्व अपरिवर्तित रहे हैं। लेकिन ये पूरी तरह पुरुषों की कलाएं हैं। नर्तक और दर्शक किसी दालान या मंदिर में जमा होते हैं। गायक फर्श पर बैठ जाते हैं और डफली की धुन पर कहानी का समूहगान आरंभ कर देते हैं। लकड़ी के मुखौटे पहने नर्तक एक तरफ बैठते हैं। जब संगीतकार गाना आरंभ करते हैं तो ये नर्तक तैयार हो जाते हैं और थोड़ी देर में दायरे में नाचना और अत्यधिक निर्धारित संकेतों और गतियों के द्वारा कहानी की व्याख्या करना आरंभ कर देते हैं। वे झूमते और चक्कर खाते हैं, पैरों की ताल को बढ़ाते हैं और नृत्य में मग्न हो जाते हैं।

नृत्यनाटिकाओं और गेयनाटकों में आमतौर पर प्रेम की कहानियों या व्यंग्य और विडंबना की कथाओं का वर्णन होता है। कभी कभी कोई पौराणिक कथा उठा ली जाती है जिसमें बीच बीच में दैनिक जीवन की घटनाएं आती रहती हैं। देवी देवता, उत्सव, चुड़ैलें, पिशाच, गांव के आवारा, मक्कार, भांड, दुकानदार, साहूकार और दूसरे विभिन्न पात्र जो पहाड़ी जीवन से लिए गए होते हैं, इन नृत्यनाटकों में पेश किए जाते हैं।

हिमाचली क्षेत्रों में बीसियों प्रेमगीत प्रचलित हैं। इनमें फुल्मू-रंझू, कुंजू-चंचलो और राजा-गद्दां प्रसिद्ध हैं। ये दिलकश प्रेमगीत नौजवान दिलों के दुखों और खुशियों का वर्णन करते हैं। फुल्मू-रंझू गीत एक दुखांत कथा का वर्णन करता है। कुंजू-चंचलो में गीत प्रेमी और उसकी प्रियतमा की बातचीत का रूप ले लेता है। राजा-गद्दां गीत राजा संसारचंद द्वारा गद्दां नोखू को फुसलाने की कहानी कहता है। सुंदर गद्दां राजा की प्रियतमा होने के भाग्य को स्वीकार तो कर लेती है लेकिन उसे अपने पहले पति को भूलने में कठिनाई महसूस होती है जो एक गद्दी आदिवासी है। कुछ गीत ऐसे भी हैं जो कुछ प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं का स्मरण कराते हैं। जैसे चंबा नगर में पानी लाने जैसे लोकहित के कार्य के लिए रानी सूही का बलिदान। सुकरट नामक इस गीत को दिल की तहों से गाया जाता है और यह रानी के बलिदान की कथा कहता है जो प्रजा के लिए अपने प्रेमभाव और गहरी मानवीय सहानुभूति के लिए प्रसिद्ध थी। एक और दुखांत कथा एक भाई की कहानी कहती है जिसने विलासपुर में अपने भाई के किए हुए खून का जुर्म अपने सिर ले लिया था और इस कारण फांसी चढ़ गया था। इस कथा को सबसे अधिक दुःख भरे गीतों में एक गीत 'मोहुना' में कहा गया है। जन्म, मंगनी और विवाह जैसे विशेष अवसरों पर भायी, सुहागरे और विदाई जैसे समारोह गीत गाए जाते हैं। फिर छींज जैसे मौसमी गीत भी हैं जो केवल चैत्र (मार्च) में गाए जाते हैं। इसमें एक स्त्री के प्रेम से पीड़ित हृदय को खोला गया है, जो दूर परदेस गए पिया के लिए तड़पती रहती है।

हिमालयपारी क्षेत्र के आदिवासी नृत्य अंतर्वस्तु और संगीत की दृष्टि से भिन्न

हैं। इन क्षेत्रों में किसी भी प्रकार के नगरीय प्रभाव से गीत और नृत्य, दोनों की पुरानी परंपरा की जमकर रक्षा की जाती है। इस क्षेत्र में किन्नौर, लाहुल और स्पीति के जिले तथा चंबा जिले की पांगी और ब्रह्मौर तहसीलें शामिल हैं। इन क्षेत्रों के निवासियों को क्रमशः किन्नौरी, लाहुली, स्पीती, पांगवाल और गद्दी कहते हैं। इसके अलावा गुज्जर भी हैं जो आज भी घुमक्कड़वृत्ति वाले हैं। इन सभी कबीलों में लोकनृत्यों और गीतों की अपनी विशिष्ट परंपराएं हैं। उनके अपने अलग पहनावे और गहने भी होते हैं। कयांग, बकयांग और बनयांगचू जैसे प्रचलित नृत्यों के अलावा लामा लोग कुछेक धार्मिक समारोहों या उत्सवों के दौरान आनुष्ठानिक नृत्य भी करते हैं। नर्तक और संगीतकार दोनों ही कढ़ाई किए हुए जरीदार परिधान पहनते हैं। चेहरे और सिर, दोनों ही बड़े बड़े विलक्षण मुखौटों से ढके होते हैं। मुखौटों के साथ एक नृत्य विशेष रूप से हिमालय क्षेत्र के बौद्ध धर्म की एक महत्वपूर्ण घटना को व्यक्त करता है जिसमें आठवीं सदी में लामाओं ने एक निर्दयी राजा लांगदर्म की हत्या करने की एक योजना सफलता के साथ लागू की थी। मुखौटों के साथ नृत्य करने के लिए एक विशेष पद्मसंभव (750-800 ई०) का जन्म समारोह है जिनको हिमालय क्षेत्र के बौद्ध भारी आदर देते हैं, क्योंकि बौद्ध धर्म के संदेश को तिब्बत ले जानेवाले व्यक्ति वे ही थे।

6

आर्थिक विकास

31 पहाड़ी राज्यों का विलय करके 1948 में हिमाचल प्रदेश का निर्माण निश्चय ही इस क्षेत्र के राजनीतिक घटनाक्रम में एक मील का पत्थर है। लेकिन राजनीतिक घटनाओं के आर्थिक परिणाम कहीं बहुत अधिक महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक रहे हैं। कोई भी राजनीतिक परिवर्तन केवल तभी सार्थक होता है जब वह जनता के चौमुखी विकास के लिए एक आर्थिक ढांचा और सामाजिक परिवेश तैयार कर सके। इस मानदंड पर परखें तो हिमाचल की स्थापना के बाद के वर्ष सचमुच घटनाओं से भरे और उल्लेखनीय रहे हैं।

सन् 1948 के पहले इस क्षेत्र की अर्थव्यवस्था खंडित और असंगठित थी। इन क्षेत्रों के विकास के लिए छोटी रियासतों के पास न तो संसाधन थे और न संकल्प था। सड़कें लगभग नदारद थीं। खच्चर, बकरे और मनुष्य ही एकमात्र ज्ञात वाहन होते थे। पहाड़ी सतह के कारण भूमि कम थी और उसमें भी सबसे अच्छी जमीनें शासकों या उनके रिश्तेदारों के पास थीं। आम किसान किसी तरह जीवनयापन करने के लिए मेजपोश जितने पथरीली पहाड़ी से काटकर बनाये गये सीढ़ीदार खेतों को जोतते बोते थे। कुछ खास प्रकारों के फल और विशेषकर सेब दुस्साहसी व्यक्तियों द्वारा उगाए जाते थे। जैसे स्वर्गीय एस.एन. स्टोक्स जिन्होंने जमीन के बेहतर उपयोग की कोशिशें की थीं। लेकिन उनके अग्रगामी कार्य समुद्र में एक बूंद के समान थे। कुछ इलाकों में उगनेवाले बीजरूप आलू को दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान एक बाजार अवश्य मिला जब बर्मा का परंपरागत बीज भारतीय उपभोक्ताओं को पहुंचना बंद हो गया। लेकिन इनका व्यापार बेईमान व्यापारियों और दिखावे की सहकारिताओं के हाथों में था जिसके कारण किसानों को नहीं के बराबर दाम मिलता था। बड़े या छोटे उद्योगों की बात तो जाने दें, संगठित कुटीर उद्योग तक भी नहीं थे। स्थानीय दस्तकार केवल स्थानीय आवश्यकताओं की ही आंशिक पूर्ति कर पाते थे।

जनता अत्यधिक दरिद्र और विचारों से रूढ़िवादी थी। अंधविश्वासों में डूबे तथा यातायात के समुचित साधनों के अभाव में गतिशीलता से वंचित ये लोग अपने पैतृक धंधों से चिपके हुए थे। कोई 200 शिक्षासंस्थाएं थीं। इनमें अधिकतर प्राथमिक विद्यालय, 20 मिडिल विद्यालय, 12 हाईस्कूल और केवल एक इंटरमीडिएट कालेज

था। साक्षरता की दर कोई 6 प्रतिशत थी। आयुर्विज्ञान और जनस्वास्थ्य संस्थाओं की संख्या 12 थी। मृत्युदर बहुत अधिक थी और इसके कारण सन् 1901 से 1941 के बीच आबादी लगभग 11 प्रतिशत बढ़ी।

मौसम की अनियमितताओं, कठिन भूमि और सदियों पुरानी निर्धनता के कारण लोग बदहाली और नीरस जीवन बिताने के लिए मजबूर थे। इससे उनके मन में वैराग्य का भाव पैदा होता था। उनकी आशा ही नहीं, आशा करने की प्रवृत्ति भी समाप्त हो चुकी थी। केवल रियासतों के शासक ही ऐसे लोग थे जिनसे जनता को उनके वातावरण की सीमाओं से बाहर निकालने तथा उनके भाग्यवादी दृष्टिकोण को झकझोरने की आशा की जा सकती थी। लेकिन ये कुलीनवंशी अपने खुद के सनक भरे कामों और कल्पना की धड़कनों में खोए हुए थे तथा जनता की समस्याओं के प्रति उदासीन थे। ऊपर पाई जानेवाली उदासीनता तथा नीचे पाए जानेवाले शाश्वत अज्ञान का परिणाम यह हुआ कि सदियां गुजरने के बावजूद समय स्थिर लगने लगा था।

जब हिमाचल को एक मुख्य आयुक्त का प्रांत बनाया गया, तो सामंती व्यवस्था के विघटन और उसकी जगह नौकरशाहाना प्रणाली की स्थापना ने अपने आप आर्थिक विकास में योगदान नहीं दिया। यह विरोधी प्रशासन बहुत धीमी गति से हरकत करता था तथा काम तो और भी धीमी गति से करता था। वित्त की हालत बहुत बुरी थी। कुल वार्षिक राजस्व मात्र 85 लाख रुपये था। लेकिन खुशी की बात यह है कि यह चरण जल्द ही खत्म हो गया और सन् 1951 में भाग 'स' के राज्य की संरचना के साथ एक लोकतांत्रिक प्रशासन स्थापित हुआ। यह घटना प्रथम पंचवर्षीय योजना के आसपास की है। हिमाचल की पहली योजना दोषपूर्ण आंकड़ों पर आधारित थी, जो पिछले प्रशासन द्वारा जल्दबाजी में तैयार की गई थी। लोकप्रिय सरकार ने इसे नया रूप दिया ताकि जनता के लिए सलाह और सहायता के एक उपयोग संगठन पर अधिक बल दिया जा सके। पहली योजना का कुल व्यय 5.3 करोड़ रुपयों का था। इसका 50 प्रतिशत से अधिक भाग सड़कों के निर्माण पर लगा जो पहाड़ों में विकास की बुनियादी शर्त है। जनता को आर्थिक सामाजिक उन्नति की प्रक्रिया में अधिकाधिक भागीदार बनाने के प्रयास भी किए गए।

इन सबके कारण प्रत्याशाएं और बढ़ीं तथा लोग सरकार से अधिक सहायता की मांग करने लगे। आरंभ में लाभार्थी जिन सुविधाओं को उदासीनता बल्कि शंका की दृष्टि से देखते थे, उनकी और भी जोरदार मांग की जाने लगी। लेकिन संसाधनों का व्यवस्थित मूल्यांकन और उनका वैज्ञानिक उपयोग अभी भी दूर के सपने जैसा था। विश्वसनीय आंकड़ों के अभाव में अधिकांश योजनाएं या तो सैद्धांतिक मात्र रहीं या फिर वे केंद्रीय योजना की अंधी नकल थीं जिसमें निचले स्तर पर स्थानीय दशाओं पर विचार नहीं किया गया था।

मात्र संसाधनों का अस्तित्व अपने आपमें काफी नहीं होता। उनकी पहचान, समुचित मूल्यांकन, व्यवस्थित विकास तथा प्रौद्योगिकी और पूंजी के व्यवहार द्वारा उनका उपयोग भी आवश्यक है। पनबिजली के क्षेत्र में देश भर में सबसे अधिक संसाधन (20,000 मेगावाट) हिमाचल में हैं। लेकिन बहुत आगे चलकर सन् 1965 तक भी प्रदेश को मात्र लघु पनबिजली परियोजनाओं के लिए ही उपयुक्त समझा जाता था। सन् 1965 में आयोजित प्रौद्योगिक आर्थिक सर्वेक्षण ने जोर देकर कहा था कि यहां केवल कुटीर उद्योगों की स्थापना ही संभव है। हिमाचल में भूमि की कमी है, मिट्टी की तह पतली है, सिंचाई के साधन थोड़े हैं और आबादी बढ़ रही है। यहां काश्त के योग्य भूमि का अनुपात प्रति हेक्टेयर लगभग सात व्यक्तियों का था जबकि अखिल भारतीय स्तर पर यह अनुपात प्रति हेक्टेयर 3.8 व्यक्तियों का है। इन सभी कारणों से प्रदेश को पिछड़ी खेती के लिए अभिशप्त समझा जाता था। हिमाचल में संसाधनों और उनके विकास के बारे में ये सभी और दूसरी बहुत सी पूर्वाग्रही धारणाएं तब गलत साबित हो गईं जब प्रदेश की अर्थव्यवस्था के हर पहलू पर नए सिरे से विचार किया गया।

हिमाचल प्रदेश में नियोजन का युग सन् 1951 में शेष भारत के साथ ही आरंभ हुआ। पहली पंचवर्षीय योजना में 5.27 करोड़ रुपये की मामूली सी रकम से बढ़कर आवंटन सातवीं योजना तक 1,050 करोड़ रुपये हो चुका था। अभी तक हिमाचल के चौमुखी विकास के लिए नियोजन के माध्यम से कुल 2,100 करोड़ रुपये व्यय किये जा चुके हैं, जिसके आशातीत परिणाम सामने आये हैं।

राज्य में प्रतिव्यक्ति आय में पिछले दो दशकों के अंदर अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। सन् 1967-68 के 532 रुपये मात्र की जगह यह आय बढ़कर सन् 1987-88 की चालू कीमतों पर 3,217 रुपये हो चुकी थी जबकि इसका राष्ट्रीय औसत 2,975 रुपये था। प्रतिव्यक्ति आय की दृष्टि से भारत के राज्यों में हिमाचल का स्थान आज चौथा है।

राज्य की विकास प्रक्रिया का एक समग्र अध्ययन यह दिखाता है कि योजनाओं के दौरान किए गए कुल व्यय का 74 प्रतिशत आर्थिक सेवाओं पर, 22 प्रतिशत सामाजिक सेवाओं पर और दो प्रतिशत सामान्य सेवाओं पर खर्च हुआ।

आरंभ में सड़क निर्माण पर अधिक जोर दिया जाता था। यह अनुभव किया जाता था कि यातायात की समुचित सेवाओं के बिना नियोजन और विकास की प्रक्रिया जनता तक नहीं पहुंच सकती जो दूर दराज के क्षेत्रों में अधिकतर अलग थलग जीवन व्यतीत कर रही थी। लेकिन जब सड़कें बढ़ीं और यातायात की सुविधाओं का प्रसार हुआ तो विकास पर दिया जानेवाला जोर और भी व्यापक हुआ।

विभिन्न इलाकों और जलवायु-क्षेत्रों के लिए उपयुक्त नये विचारों और खेती की तकनीकों का प्रयोग आरंभ किया गया। इससे जनता में उनकी जमीनों की

उत्पादक क्षमताओं के प्रति जागरूकता पैदा हुई जबकि वे सदियों से प्राचीन और सड़ी गली विधियों का उपयोग करते आये थे। हिमाचल की 93 प्रतिशत जनता प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है, जो 71 प्रतिशत जनता को प्रत्यक्ष रोजगार देती है। मात्र राज्य घरेलू उत्पाद में कृषि का योगदान 45 प्रतिशत से ऊपर है। 55.7 लाख हेक्टेयर के कुल भौगोलिक क्षेत्र में 6.21 लाख हेक्टेयर भूमि पर कृषि होती है। स्थलाकृति, जलवायु और परिवर्तनशील आर्थिक दशाओं के कारण तथा नये विचारों और तकनीकों से परिचय के बाद कुछेक क्षेत्रों में एक की बजाय दूसरी फसल पर जोर दिया जाने लगा है। लेकिन निकट भविष्य में इसकी कोई संभावना नहीं है कि हिमाचल में आय और रोजगार के साधन के रूप में कृषि का महत्व घटेगा।

लेकिन राज्य में कृषि और खासकर अनाजों के उत्पादन की कुछ सीमाएं हैं। एक पाबंदी यह है कि काश्त की जमीन के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं है।

हिमाचल का कोई 11 प्रतिशत क्षेत्र खेती के योग्य है जबकि पूरे देश के लिए यह अनुपात 55 प्रतिशत है। इसमें कोई शक नहीं कि पिछले दो दशकों में काश्त के क्षेत्र में लगभग 19 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। लेकिन यह वृद्धि अधिकतर अखाद्य फसलों के सिलसिले में हुई है। खाद्यान्नों का क्षेत्रफल लगभग अपरिवर्तित रहा है। वादियों और पहाड़ों की तलहटी की अपेक्षाकृत सपाट जमीनों पर अधिकतर अनाज की खेती की जाती है। अनाज की खेती के लिए पहाड़ी ढलानों की भूमि का विकास न तो किफायती है और न ही लाभकारी। इसके अलावा इससे मिट्टी के कटाव का पहले से बढ़ता खतरा और भी बढ़ सकता है। भूमि और सिंचाई की सुविधाओं की कमी तथा खादों, उन्नत बीजों, कीड़ामार दवाओं और दूसरे आगतों की ढुलाई और वितरण की अधिक लागत के कारण पहाड़ी किसान के लिए परंपरागत फसलों का उत्पादन बढ़ाना कठिन है, खासकर तब जबकि वह कृषि और जलवायु की दशाओं के लिए उपयुक्त नकद फसलें उगाकर अधिक लाभ पा सकता है। चूंकि परंपरागत फसलों के लिए भूमि का विस्तार संभव नहीं, इसलिए सघन कृषि के लिए तथा अधिक और उन्नत आगतों का प्रयोग करके भूमि की उत्पादकता बढ़ाने के लिए प्रयास किए गए हैं।

हिमाचल के कुछ चुनिंदा क्षेत्रों में सन् 1952 में आरंभ किए गए सामुदायिक विकास कार्यक्रम को आगे चलकर समूचे ग्रामीण क्षेत्र में लागू किया गया। साथ ही मंडी और कुल्लू जिलों में किसानों में खेती की आधुनिक तकनीकों को लोकप्रिय बनाने के लिए पश्चिम जर्मन सरकार के सहयोग से पैकेज कार्यक्रम आरंभ किए गए। इन क्षेत्रों में उपयुक्त खेतिहर मशीनों का उपयोग तथा अच्छी नस्ल के मवेशियों, भेड़ों और मुर्गे-मुर्गियों का पालन आरंभ किया गया। विभिन्न केंद्रों पर मिट्टी की जांच के लिए उपकरणों से सुसज्जित प्रयोगशालाओं, डेयरी फार्मों और कृषि कार्यशालाओं

की स्थापना की गयी। इसके अलावा पालमपुर में एक कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किया गया।

उगाए जानेवाले प्रमुख खाद्यान्न गेहूं, मक्का, चावल और जौ हैं। कांगड़ा और मंडी जिले तथा कुछ हद तक सिरमौर जिले की पौंटा वादी पहले तीन खाद्यान्नों के प्रमुख उत्पादक हैं जबकि जौ अधिकतर शिमला जिले में उगाया जाता है। पिछले दो दशकों में खाद्यान्नों का उत्पादन लगभग 18 प्रतिशत बढ़ा है। सन् 1988-89 में यह उत्पादन लगभग 11.25 लाख टन था। निश्चय ही राज्य को अभी भी प्रतिवर्ष लगभग 1 लाख टन खाद्यान्न की कमी पड़ती है। लेकिन बीजरूप आलू, अदरक, सब्जियां, सब्जियों के बीजों, कुकुरमुत्तों, कासनी के बीजों, हाप फलों, जैतून और अंजीर जैसे कृषि उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में राज्य ने भारी प्रगति की है। आज हिमाचल में उगनेवाली सब्जियां प्रतिवर्ष 200 करोड़ रुपये से अधिक का व्यापार करती हैं। हिमाचल में पैदा बीजरूप आलू रोगमुक्त और अच्छी कोटि का होता है। इसका वार्षिक उत्पादन लगभग एक लाख टन है। यह अधिकतर शिमला, कुल्लू और लाहुल क्षेत्रों में उगाया जाता है। गैरमौसमी सब्जियां हिमाचल के किसानों के लिए आय का अच्छा स्रोत सिद्ध हो रही हैं। किसानों को उनकी फसल के लाभकारी मूल्य सुनिश्चित करने के लिए राज्य को अब अधिकाधिक बाजारी नियम-कायदों के दायरे में लाया जा रहा है। उपयुक्त स्थानों पर सीमांत बाजार स्थापित किए जा रहे हैं ताकि कृषि और बागबानी की उपज के विपणन में आंतरिक लचक आ सके।

हिमाचल में ऐसे बड़े बड़े इलाके हैं, जो केवल फल उगाने के लिए उपयुक्त हैं। मिट्टी और ढाल की कोटि के कारण बागवानी के अलावा कोई और कृषि कार्य संभव ही नहीं है। फलों की बागवानी मिट्टी का कटाव तेज नहीं करती बल्कि मिट्टी के संरक्षण के उपायों को और पुष्ट करती है। इसके अलावा परंपरागत कृषि की अपेक्षा बागवानी में रोजगार के सृजन की क्षमता अधिक है। सबसे बड़ी बात यह है कि हिमाचल की विशिष्ट कृषि और जलवायु संबंधी दशाओं के कारण और बागवानी की आर्थिक संभावनाओं के कारण खाद्यान्नों और दूसरी नकद फसलों के मुकाबले यह स्पष्ट रूप से लाभकारी है। रुपयों में बागवानी की प्रति एकड़ उपज काफी अधिक है। अनुमान लगाया गया है कि अगर बागों का प्रबंध ठीक ठाक हो तो सेबों से प्रतिवर्ष 10,000 रुपये, गुठलीदार फलों से 5,000 रुपये तथा नींबू, आम और लीची जैसे निम्न ऊष्णकटिबंधीय फलों से 3,000 रुपये की वार्षिक सकल आय प्राप्त की जा सकती है।

बागवानी करनेवाले किसानों की आय में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। कोटगढ़, कोटखी, जुब्बल और कुल्लू के क्षेत्रों में जहां सेब उगा रहे हैं, प्रतिव्यक्ति आय देश के किसी भी भाग के किसानों की अपेक्षा अधिक है। जनप्रयासों और सरकारी सहायता का संयुक्त परिणाम यह हुआ है कि फलों की बागबानी का क्षेत्रफल बहुत

तेजी से बढ़ा है। राज्य अब प्रतिवर्ष कोई 4 लाख टन फल पैदा करता है जबकि यह पैदावार सन् 1948 में मात्र 1,200 टन और सन् 1971 में 1.78 लाख टन थी। फलों की पैदावार से अब हिमाचल को प्रतिवर्ष 300 करोड़ रुपये से अधिक की आमदनी हो रही है। बागवानी को ठोस आर्थिक आधार और स्थायित्व प्रदान करने के लिए इसके विविधीकरण पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। अभी तक अनजान फसलों जैसे जैतून, अंजीर, हाप फलों, कुकुरमुत्तों, फूलों, पिस्ता के गूदों, शारदा तरबूज और केसर की खेती को बढ़ावा देने के प्रयास किए जा रहे हैं। हिमाचल को 'भारत के सेब उत्पादक राज्य' का नाम पहले ही मिला हुआ है। अब इसे देश को 'फलों का कटोरा' बनाने के प्रयास जारी हैं।

फलों की बागवानी किसानों के लिए आर्थिक वरदान तो साबित हुई है लेकिन उसकी डिब्बाबंदी पर्यावरण की समस्याएं पैदा करने के अलावा राज्य की मूल्यवान जंगल संपत्ति को कम करती जा रही है। अनुमान है कि आज की पैदावार की डिब्बाबंदी के लिए आवश्यक लकड़ी पाने के लिए 3 लाख घनमीटर देवदार और सनोबर के पेड़ गिरा दिए जाते हैं जबकि उनकी वृद्धि का चक्र 100 से 150 वर्ष तक का होता है। राज्य के लिए इस भयानक दर से पहाड़ों के हरित आवरण के विनाश को झेल सकना कठिन सिद्ध हो रहा है। इसलिए फैसला किया गया है कि डिब्बाबंदी के लिए कार्डबोर्ड के डिब्बे तैयार करने का एक कारखाना लगाया जाए और आनेवाले वर्षों में लकड़ी के डिब्बों की आपूर्ति एकदम बंद कर दी जाए।

भारत के अधिकांश भागों के भाइयों की अपेक्षा हिमाचल के किसानों की अपेक्षाकृत खुशहाल स्थिति केवल उसके क्षेत्रों की स्थलीय दशाओं के कारण नहीं है। इसका कारण केवल यह भी नहीं कि वह नए विचारों और नयी तकनीकों के प्रति अधिक ग्रहणशील रहा है। राज्य में किए गए कृषि-सुधार भी इसके कारण हैं। सन् 1954 में हिमाचल प्रदेश में बड़ी भूसंपत्ति उन्मूलन और भूमि सुधार कानून के नाम से भूमि सुधारों का एक क्रांतिकारी कानून बनाया गया। अच्छा खासा तूफान खड़ा करनेवाले इस कानून ने बड़े जमींदारों और भूतपूर्व शासकों की एक सीमा से अधिक जमीनें ले लीं और उनको मुआवजे के बदले बंटाईदारों को दे दिया। यह मुआवजा जमीन की मालगुजारी के 24 गुने के बराबर था। सन् 1972 में हिमाचल प्रदेश जोत हदबंदी कानून पारित किया गया। इसके अनुसार विभिन्न प्रकार की जमीनों की हदबंदी की गयी और बंटाईदारों की बेदखली पर रोक लगी। इसमें यह निर्देश भी दिया गया था कि प्रत्येक कृषक परिवार को कम से कम पांच बीघा जमीन दी जाए। इन उपायों के फलस्वरूप 2,500 बड़ी जागीरों का उन्मूलन कर दिया गया। लगभग एक लाख एकड़ जमीन फालतू घोषित की गयी और भूमिहीनों में बांट दी गयी। सन् 1973 में भूमिहीन व्यक्तियों का एक सर्वेक्षण कराया गया और सन् 1975 तक उनमें भूमि के वितरण का कार्यक्रम पूरा हो चुका था। कोई 20,000 भूमिहीनों

को भूमि दी गई मगर फिर भी लगभग 90,000 लोग भूमिहीन बने रहे। सन् 1974 में हिमाचल प्रदेश ग्रामीण शामलात अधिग्रहण एवं उपयोग कानून पारित हुआ। इससे सरकार को भूमिहीनों को शामलात जमीनें देने की सामर्थ्य प्राप्त हुई। इन कृषि सुधारों के कारण लगभग 87,000 दखली काश्तकार अपनी काश्त की जमीनों के मालिक बने जबकि लगभग 80,000 भूमिहीनों में प्रत्येक को कोई पांच बीघा जमीन मिली। इनमें से अधिकांश लोग अनुसूचित जातियों और जनजातियों के थे। लगभग 5 लाख कृषक परिवारों में लगभग 4.5 लाख अब भूमि के स्वामी बन चुके हैं।

अधिकांश कृषि योग्य भूमि जो हिमाचल के कुल क्षेत्रफल का लगभग दसवां भाग है, वर्षा पर निर्भर है। सिंचाई की स्थायी सुविधाएं अधिकतर भूतपूर्व शासकों या बड़े जमींदारों की भूमियों पर ही उपलब्ध हैं। पहली पंचवर्षीय योजना के आरंभ में ही उपलब्ध धन की सीमाओं में सिंचाई की सुविधाएं सुधारने के प्रयास किए गए हैं। सिंचाई के प्रमुख स्रोत कुहल (पानी के छोटे छोटे नाले) हैं जो स्थायी या मौसमी झरनों से पानी पाते हैं। मैदानों के पास कुछ क्षेत्रों में कुंओं से सिंचाई भी संभव है। चूंकि नदियां और नाले सीढ़ीदार खेतों और वादियों के नीचे बहते हैं, इसलिए उनके लिए उत्थापक सिंचाई ही सिंचाई का एकमात्र साधन हो सकती है। एक सर्वेक्षण के अनुसार अनुमानतः 60 प्रतिशत कृषि क्षेत्र (5.50 लाख हेक्टेयर) इन सभी साधनों के द्वारा किफायत के साथ सींचा जा सकता है। अभी तक लगभग 1.60 लाख हेक्टेयर भूमि को ही सिंचाई की सुविधाएं प्राप्त हैं।

पशुपालन कृषि के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, खासकर हिमाचल प्रदेश जैसे क्षेत्र में जहां मवेशी ही जुताई और अन्य कृषि कार्यों के प्रमुख साधन हैं। प्रदेश में मवेशियों की संख्या लगभग 50 लाख है मगर प्रति गाय या प्रति भैंस दूध की पैदावार बहुत कम है। औसतन एक गाय प्रतिदिन 1.7 लीटर और एक भैंस 3.1 लीटर दूध देती है। इसी प्रकार प्रति भेड़ ऊन की पैदावार भी कम है। राज्य की लगभग 11 लाख भेड़ें प्रतिवर्ष केवल 1,350 टन ऊन देती हैं। गाय भैंसों की देसी नस्लें बहुत घटिया किस्म की हैं। वे देर से बड़ी होती हैं, कम दूध देती हैं, कम समय दूध देती हैं और कद में छोटी होती हैं।

राज्य के पशुधन में सुधार के लिए अनेक योजनाएं चलाई गई हैं। इनमें पशुधन विकास, पशुधन स्वास्थ्य और रोग नियंत्रण, अच्छी किस्म की भेड़ों को पैदा करना और ऊन के उत्पादन में सुधार करना, मुर्गी पालन का विकास, भूसा और चारा का विकास, दूध के धंधे में सुधार, दूध आपूर्ति और पशुचिकित्सा शिक्षा की योजनाएं आदि शामिल हैं। इस समय राज्य में 228 पशु चिकित्सालय, 441 पशु दवाखाने और 83 सीमावर्ती दवाखाने हैं। ये संस्थाएं छूत के विभिन्न रोगों के विरुद्ध पशुचिकित्सा सहायता प्रदान कर रही हैं और रोग निरोधक कदम भी उठा रही हैं। विभिन्न पशु रोगों के निदान के लिए चार चिकित्सा प्रयोगशालाएं भी स्थापित की

गयी हैं। अनेक चलते फिरते दवाखाने भी काम कर रहे हैं। बुनियादी सुविधाओं के इस लंबे चौड़े जाल और आधुनिक प्रौद्योगिकी की सुविधाओं के कारण राज्य पशु रोगों से मुक्त रहा है।

अभी हाल में प्रदेश में अंगोरा खरगोश भी लाए गए हैं। मूलतः पश्चिम जर्मनी से आयातित ये खरगोश स्थानीय स्तर पर और अधिक पैदा किए जा रहे हैं। उनकी वृद्धि के लिए कांगड़ा जिले में सात इकाइयां स्थापित की गयी हैं।

नस्लों के मेल के द्वारा पशुधन में सुधार के उपायों के कारण दूध का उत्पादन बढ़ा है। आज यह उत्पादन लगभग 5 लाख टन प्रतिवर्ष है। लगभग दो दर्जन स्थानों पर दूध को ठंडा रखने के संयंत्र लगाए गए हैं जिनकी क्षमता कोई 55,000 लिटर है। आधा दर्जन नगरों में दूध आपूर्ति की विभागीय योजनाएं चल रही हैं।

सस्ते ऋण की उपलब्धता, विपणन सुविधाओं का संगठन तथा कृषि की आगतों की व्यवस्था कृषि के विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती है। सहकारी समितियां एकमात्र ऐसी गैरसरकारी संस्थाएं हैं जो इनमें से कुछ विस्तार कार्य करती हैं। 3,841 की संख्या वाली इन सहकारी समितियों की सदस्यता इस समय लगभग 9.5 लाख है। उनकी कार्यकारी पूंजी लगभग 421 करोड़ रुपये है। राज्य की कोई 93 प्रतिशत ग्रामीण जनता इनके दायरे में आती है। कोई 2,100 प्राथमिक कृषि समितियां अपने सदस्यों को अल्पकालिक और मध्यकालिक ऋण सुविधाएं प्रदान करती है जिनकी संख्या लगभग 8 लाख है। सहकारी संगठनों का एक महत्वपूर्ण कार्य बचत की रकमें जमा कराने का है जो आज लगभग 141 करोड़ रुपये के बराबर हैं। ये सहकारी संगठन कृषि और बागवानी की फसलों का विपणन भी कर रहे हैं। वे इस समय 14 करोड़ रुपये की उपज बाजार में लाते हैं और किसानों को 10 करोड़ रुपये की खेती के काम की वस्तुएं बेचते हैं। वे सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। राज्य में उचित दर की कुल 2,900 दूकानें हैं, जिनमें से लगभग 2,400 को ये संगठन ही चलाते हैं।

हिमाचल प्रदेश में जंगलों का क्षेत्रफल 21,325 वर्ग कि० मी० है। यह राज्य के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का लगभग 38.3 प्रतिशत है। हालांकि यह प्रतिशत भारत के अधिकांश पहाड़ी क्षेत्रों के संगत प्रतिशत से अधिक है, मगर राष्ट्रीय वन नीति के संदर्भ में इसे पर्याप्त नहीं माना जाता। राज्य सरकार कुल क्षेत्रफल के 50 प्रतिशत को हरित आवरण प्रदान करने पर विचार कर रही है। कुछ वर्षों तक जंगलों को राज्य की आय का प्रमुख स्रोत माना जाता था। लेकिन यह धारणा अब पूरी तरह बदल चुकी है। वनों के दोहन की जगह अब उनके संरक्षण पर जोर दिया जाने लगा है। नाजुक पर्यावरण की सुरक्षा की दृष्टि से जंगलों का पूरी तरह राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। अब राज्य वन निगम ही पेड़ काटने और इमारती लकड़ी बेचने के काम करता है तथा जंगलात के ठेकेदारों की सदियों पुरानी संस्था को समाप्त

कर दिया गया है। अब जंगल विभाग पेड़ लगाने और उनका संरक्षण करने से अधिक सरोकार रखता है। विश्व बैंक की सहायता से अब सामाजिक वानिकी परियोजना शुरू की गयी है। इसका उद्देश्य जनता की ईंधन, चारा और थोड़ी बहुत इमारती लकड़ी की बुनियादी जरूरतें पूरी करना है ताकि वे इनकी पूर्ति के लिए जंगल न काटें। जंगल लगाने में विभागीय प्रयासों के अलावा जनता को भी शामिल किया जा रहा है जिसके लिए उन्हें मेहनताना दिया जाता है। जैविक हस्तक्षेप से जंगलों की सुरक्षा की जा रही है तथा पेड़ों की गैरकानूनी कटाई और लकड़ी की ढुलाई के मामले पकड़ने के लिए निगरानी चौकियों और दूरसंचार सुविधाओं से युक्त एक केंद्रीय योजना शुरू की गयी है। सन् 1970-85 के दौरान विभिन्न संगठनों की मिलीभगत के कारण पेड़ों की गैरकानूनी कटाई और इमारती लकड़ी की तस्करी ने चिंताजनक रूप धारण कर लिया था। इसे रोकने के लिए एक प्रवर्तन संगठन स्थापित किया गया है जिसके कुछ परिणाम सामने आये हैं। जंगलों की पहचान और सीमाबंदी के लिए एक नयी परियोजना शुरू की जा रही है। निजी बंजर भूमि पर पौधे लगाने के लिए प्रोत्साहन भी दिए जा रहे हैं। शिवालिक पहाड़ियों के लिए एकीकृत जलविभाजन विकास परियोजना तैयार की जा रही है। अभी तक बंजर पड़े 'कंडी' क्षेत्रों में वनारोपण के लिए एक और परियोजना भी विश्व बैंक के सहयोग से शुरू की गयी है। वन्यजीवन की सुरक्षा और प्रबंध में तेजी लाने के कदम उठाए गए हैं। इस उद्देश्य के लिए आठ अभयारण्यों की अधिसूचना जारी की गई है। शिकार पर रोक लगाई गई है। लेकिन जंगली जानवरों के उत्पात के फलस्वरूप फसलों, मानव जीवन या घरेलू पशुओं की हानि होने पर लोगों को मुआवजा दिया जाता है।

पिछले कुछ वर्षों में राज्य में पर्यावरण को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जल या वायु का प्रदूषण बढ़ानेवाले उद्योगों को प्रोत्साहित नहीं किया जाता। यहां तक कि सीमेंट की औद्योगिक इकाइयों तक को भी आश्वासन देना होता है कि वे हवा को प्रदूषित नहीं करेंगी। पर्यावरण संरक्षण संगठन इन विषयों पर सरकार को सलाह देता है तथा इस बारे में जनता में जागरूकता पैदा करता है। हर औद्योगिक परियोजना को स्थापना से पहले मंजूरी लेनी होती है।

हिमाचल पनबिजली संसाधनों की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। इसकी कुल राष्ट्रीय क्षमता का कोई 25 प्रतिशत भाग इसी प्रदेश में है। अनुमान है कि हिमाचल में पनबिजली क्षमता 20,000 मेगावाट की है। राज्य में ऊर्जा की इस विशाल क्षमता में अभी तक केवल 3,500 मेगावाट को ही विकसित किया गया है। इस उत्पादन का अधिकांश भाग केंद्र या पंजाब के नियंत्रण में है। हिमाचल प्रदेश राज्य बिजली बोर्ड ने अभी तक अपने नियंत्रण में मात्र 150 मेगावाट क्षमता स्थापित की है। इस विशाल संसाधन को देखते हुए राज्य सरकार इसके विकास को सर्वोच्च प्राथमिकता

देती रही है। कारण कि पनबिजली का उत्पादन उद्योगों, कृषि और ग्रामीण विद्युतीकरण की बढ़ती आवश्यकताएं ही पूरी नहीं करेगा। पड़ोसी राज्यों बल्कि राष्ट्रीय ग्रिड को भी बिजली की बिक्री के रूप में यह राज्य की आमदनी का सबसे बड़ा स्रोत भी हो सकता है।

भाखड़ा, सतलुज व्यास, थिएन बांध, चमेरा, यमुना और बैरा सुएल जैसी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय या अंतर्राज्यीय पनबिजली परियोजनाएं हिमाचल के जल पर ही आधारित हैं। इनका संचालन या निर्माण राष्ट्रीय या अंतर्राज्यीय प्राधिकरणों द्वारा किया जा रहा है। वित्तीय संसाधनों के अभाव में हिमाचल अपने बूते पर पनबिजली परियोजनाएं लागू नहीं कर सकता। उसे इनके क्रियान्वयन के लिए केंद्र या पड़ोसी राज्यों बल्कि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से भी मदद मांगनी पड़ती है। फिर भी राज्य बिजली बोर्ड ने संजय विद्युत परियोजना (120 मेगावाट), आंध्र पनबिजली परियोजना (16.95 मेगावाट), त्रिनवा (6 मेगावाट) और रोंगटोंग (2 मेगावाट) का आरंभ किया है।

नाथपा झाकड़ी परियोजना (1,500 मेगावाट) इस समय राज्य में सतलुज नदी पर बन रही सबसे प्रतिष्ठित और सबसे बड़ी परियोजना है। इसे केंद्र सरकार के सहयोग से बनाया जा रहा है। एक नाथपा झाकड़ी पनबिजली निगम का गठन किया गया है। इस परियोजना के लिए विश्व बैंक धन देगा।

सतलुज पर एक और बड़ी परियोजना कोल बांध (600 मेगावाट) होगी। इसके निर्माण के लिए भारतीय प्रधानमंत्री और सोवियत राष्ट्रपति ने एक अनुबंध पर हस्ताक्षर किए हैं।

थीरट पनबिजली परियोजना (4.5 मेगावाट), गाज (10.5 मेगावाट) और बनेर (6.6 मेगावाट) का काम प्रगति पर है। योजना आयोग ने लारजी परियोजना (126 मेगावाट) को स्वीकृति दे दी है और इसे संभवतः स्वीडन की सहायता से पूरा किया जाएगा। केंद्रीय विद्युत प्राधिकरण ने तकनीकी दृष्टि से उह्ल के तीसरे चरण (70 मेगावाट) और घानवी परियोजना (22.5 मेगावाट) को स्वीकृति दे दी है। राज्य सरकार ने वांगटू (600 मेगावाट) और बसपा (400 मेगावाट) परियोजनाओं को पूरा करने के लिए क्रमशः राजस्थान और पंजाब सरकारों ने अनुबंध किए हैं। प्रदेश ने सन् 1995 तक 5,000 करोड़ रुपये की लागत से 4,700 मेगावाट बिजली पैदा करने के खाके तैयार किए हैं।

हिमाचल के गांवों की दूर दराज स्थिति और उनके अलगाव को देखते हुए ग्रामीण और नगरीय विद्युतीकरण में उसका कीर्तिमान बहुत प्रभावशाली है। राज्य के 16,807 आबाद गांवों में हरेक का विद्युतीकरण किया जा चुका है।

राज्य के जल संसाधन ऊर्जा के उत्पादन के लिए एक विशाल सुरक्षित भंडार ही नहीं हैं बल्कि मछलियों के रूप में बहुमूल्य खाद्य सामग्री भी प्रदान करते हैं। हिमाचल प्रदेश के मत्स्य संसाधन गोविंद सागर और पोंग बांध के 40,000 हेक्टेयर

ठहरे पानी और 3,000 कि॰मी॰ लंबी नदियों पर आधारित हैं। इसके अलावा अनेकों स्थायी धाराएं, छोटी झीलें और तालाब भी हैं। पिछले पांच वर्षों में मछली का उत्पादन लगभग दोगुना हो चुका है और अब यह प्रतिवर्ष कोई 4,500 टन है। इसे और आगे बढ़ाने की भारी गुंजाइश है और मछली के बीजों की आपूर्ति बढ़ाकर तथा प्रतिबंधित मौसमों का सख्ती से पालन करके इस दिशा में प्रयास किए भी जा रहे हैं। एक राष्ट्रीय मत्स्य बीज फार्म और मछुआरा विकास अभिकरणों की स्थापना की गयी है। कुल्लू वादी में व्यापारिक पैमाने पर ट्राउट मछलियों की पैदावार के लिए नार्वे की सहायता से एक प्रायोगिक परियोजना शुरू की जा रही है। इसका उद्देश्य राज्य के बहुत ऊंचे स्थित जल संसाधनों का उपयोग करना है जिनका उपयोग अभी तक नहीं किया गया है।

जल संसाधनो की दृष्टि से समृद्ध होते हुए भी खनिजों के सिलसिले में हिमाचल प्रदेश की स्थिति इतनी अच्छी नहीं है। देश के कुल खनिज उत्पादन में राज्य का भाग मात्र 0.2 प्रतिशत है। भारतीय भूगर्भशास्त्र सर्वेक्षण की आरंभिक जांच पड़ताल से पता चला है कि नमक, स्लेट, चूना पत्थर, जिप्सम, बेराइट्स, मृदाओं, अभ्रक, लौह पायराइट्स और सीसे के भंडार यहां मौजूद हैं। इनमें केवल चार अर्थात् चूना पत्थर, मकान बनाने के पत्थर, स्लेट और जिप्सम को ही कुछ महत्वपूर्ण और व्यापारिक दृष्टि से मूल्यवान समझा जाता है। मंडी [जिले के गुमा और दारंग में सेंधा नमक के कुछ भंडार भी हैं। राज्य में चूना पत्थर बड़े पैमाने पर उपलब्ध है लेकिन जिप्सम अधिकतर सिरमौर जिले में तथा स्लेट मंडी,] कांगड़ा, बिलासपुर और चंबा जिलों में पाया जाता है। राज्य सरकार ने उद्योग विभाग में एक भूगर्भशास्त्रीय प्रकोष्ठ भी स्थापित किया है और उसने जिप्सम, डोलोमाइट और चूना पत्थर के सिलसिले में खोजकार्य भी किए हैं। लेकिन अभी तक कोई विशेष परिणाम नहीं निकला है। खबर है कि कुल्लू जिले की पार्वती वादी में यूरेनियम के भंडार हैं, लेकिन अभी तक यह बात असंदिग्ध रूप से स्थापित नहीं हो सकी है।

खनिजों के क्षेत्र में हिमाचल के समृद्ध न होने के कारण यहां किफायती ढंग से केवल ऐसे उद्योग ही स्थापित किए जा सकते हैं, जो या तो जंगलों और बागान की उपज और चूना पत्थर जैसे स्थानीय रूप से उपलब्ध कच्चे मालों पर आधारित हों या फिर जिनके लिए यहां की जलवायु और धूल से रहित वातावरण उपयुक्त हों जैसे इलेक्ट्रानिकी की वस्तुएं या सटीक मापन वाली वस्तुएं। इसके अलावा बिजली की उपलब्धता राज्य का सबसे बड़ा संसाधन है, जो बिजली की कमी से पीड़ित पड़ोसी राज्यों के उद्यमियों को आकर्षित कर रहा है। लेकिन जहां तक औद्योगिक विकास का सवाल है, राज्य अभी भी बहुत पीछे है। राज्य (के मात्र घरेलू उत्पाद) में बड़े और छोटे पैमानों के विनिर्माण का योगदान लगभग सात प्रतिशत है। औद्योगिक विकास के सिलसिले में हिमाचल की वर्तमान कठिनाइयों को देखते

हुए यह औद्योगिक पिछड़ापन आश्चर्यजनक नहीं है। यातायात के पर्याप्त और विश्वसनीय साधनों का अभाव प्रमुख बाधा था। प्रदेश के बाहर से कच्चा माल लाने या मैदानों के बाजारों के लिए उत्पादन करनेवाली औद्योगिक इकाइयां यातायात की ऊंची लागत के कारण किफायती साबित नहीं होतीं। बुनियादी सुविधाओं की अनुपलब्धता, पूंजी और साज सामान की कमी, आधुनिक कुशलताओं का अभाव तथा स्थानीय जनता में उद्यमशीलता का अभाव अन्य बाधाएं हैं। अभी एक दशक पहले तक मैदानी ढर्रे पर परंपरागत औद्योगीकरण पर जरूरत से ज्यादा जोर दिया जाता रहा है और यह विश्वास भी आम रहा है कि हिमाचल केवल कुटीर उद्योगों के लिए उपयुक्त है। ये भी औद्योगीकरण में बाधक कुछ तत्व रहे हैं।

हिमाचल के औद्योगिक चिंतन के आठवें दशक में परिवर्तन आना आरंभ हुआ जब सरकार और जनता ने महसूस किया कि राज्य को कुटीर उद्योगों के युग से निकलना होगा। यह समझकर कि आरंभ में अंदरूनी इलाकों का औद्योगिक विकास संभव नहीं है, तय किया गया कि बुनियादी सुविधाओं से लैस औद्योगिक क्षेत्र हरियाणा, पंजाब और उत्तर प्रदेश की सीमाओं से लगे अपेक्षाकृत मैदानी क्षेत्रों में स्थित स्थानों पर बनाये जायेंगे। एक नयी औद्योगिक नीति भी स्वीकार की गयी जिसमें सस्ती बिजली, राज्य वित्त निगम और राष्ट्रीयकृत बैंकों से नए उद्योगों की स्थापना के लिए सस्ते ऋणों की व्यवस्था के अलावा 25 प्रतिशत अनुदान जैसे विभिन्न प्रोत्साहन दिए गए थे। कम दरों पर 99 वर्षीय भाड़े के आधार पर जमीन उपलब्ध कराई गई। नए उद्योगों को पांच वर्षों के लिए कच्चे मालों को तैयार वस्तुओं, दोनों पर बिक्री या खरीद कर से तथा चुंगी से मुक्त कर दिया गया। राज्य के बाहर के निकटतम रेल स्टेशन से कच्चे मालों के यातायात के भाड़ पर रियायत दी गयी। इसके अलावा परियोजना रिपोर्टों की तैयारी में सहायता जैसे सीमांत लाभों की व्यवस्था भी की गयी। इन रियायतों ने उद्यमियों तथा स्थापित औद्योगिक घरानों को राज्य की ओर आकर्षित करने में भारी सहायता पहुंचाई।

परवानू, बरौटीवाला, बद्दी, पौंटा साहब, मेहतपुर, शामशी, नगरकोटा बागवान, बिलासपुर, रेकाग पेयो और संसारपुर टेरा में औद्योगिक क्षेत्र बनाए गए हैं। इस समय इन क्षेत्रों में कोई 100 मझोली और बड़ी इकाइयां स्थापित हैं जिनका पूंजीनिवेश लगभग 255 करोड़ रुपये का है। चूंकि इलेक्ट्रानिक और सटीक मापन यंत्रों के उद्योगों के लिए हिमाचल की धूलरहित और ठंडी जलवायु अत्यंत उपयुक्त है, इसलिए सोलन, मंडी, हमीरपुर, शोगी, राजा का बाग, चंबा, अंब, तलीवाल केलांग में अनेक इलेक्ट्रानिक कांप्लेक्स बनाए गए हैं। सोलन, धर्मपुर, कांगड़ा, जवाली और डेहरा गोपीपुर में भी औद्योगिक क्षेत्र बनाए गए हैं। बिजली की उपलब्धता से इस्पात के छोटे संयंत्रों की स्थापना को बल मिला है। जहां चूना पत्थर की बहुतायत है वहां निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों में सीमेंट के कारखाने भी बने हैं। स्थानीय सामग्रियों

पर आधारित तथा स्थानीय मांग की पूर्ति करनेवाले उद्योग स्वाभाविक रूप से लाभकारी स्थिति में हैं। फर्नीचर, रस्सी, बांस की वस्तुएं बनाने की तथा लकड़ी पर आधारित विनिर्माण और विशेषीकृत औद्योगिक इकाइयां स्थापित की गई हैं। फिर वे इकाइयां भी स्थापित की गई हैं जिनमें बागवानी की पैदावार का उपयोग होता है। ये पहले कुटीर उद्योगों के रूप में चलते रहे मगर फिर इनका आधुनिकीकरण और विस्तार किया गया। कागज बनाने की कोई दर्जन भर मझोली इकाइयां भी स्थापित की गई हैं।

सूटीक मापनयंत्रों के स्थापित उद्योगों में घड़ी बनाने तथा इसके अलावा तापमापी, सूक्ष्मदर्शी, अस्पतालों और प्रयोगशालाओं के उपकरण बनाने की इकाइयां शामिल हैं। इलेक्ट्रानिक उद्योगों की स्थापना पर 50 लाख रुपये तक का अनुदान दिया जा सकता है। इनके लिए उपलब्ध सुविधाएं भारी आकर्षण सिद्ध हुई हैं। अब टी.वी. सेट, टेपरिकार्डर, वीडियो कैसेट, इलेक्ट्रानिक खिलौने तथा कंप्यूटर के पुर्जे बनाने की इकाइयां तेजी से स्थापित हो रही हैं। 120 करोड़ रुपये की लागत से एक्रिलिक धागे बनाने का कारखाना खड़ा करने की औपचारिकताएं पूरी हो चुकी हैं। नालागढ़ में निजी क्षेत्र में एक वनस्पति घी का संयंत्र स्थापित हुआ है जिसकी दैनिक क्षमता 50 टन है। मंडी में सहकारी क्षेत्र में वनस्पति घी का 100 टन प्रतिदिन क्षमता वाला एक और संयंत्र स्थापित किया जायेगा।

जहां निजी क्षेत्र के उद्योग अच्छी तरह चल रहे हैं वहीं सार्वजनिक क्षेत्र में हिमालय फर्टीलाइजर्स, हिमाचल बर्स्टेड मिल्स और नाहन फाउंड्री जैसी कुछ इकाइयां घाटे में जा रही हैं। इन इकाइयों के भविष्य पर पुनर्चितन चल रहा है। लेकिन देसी शराब की बोतलबंदी का संयंत्र तथा गंधराल और तारपीन के कारखाने मुनाफा कमा रहे हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र के निगमों और बोर्डों की संख्या बहुत बढ़ी है। इनमें कुछ के कार्य आपस में टकराते हैं और उनमें कर्मियों की संख्या अधिक है जबकि कुछ घाटे उठा रहे हैं। उनका विलय करने तथा दक्षता बढ़ाने के अलावा मितव्ययिता प्राप्त करने की दृष्टि से उनके काम की समीक्षा की जा रही है।

राज्य की बड़ी और मझोली इकाइयां लगभग 12,000 मजदूरों को रोजगार देती हैं। लघु क्षेत्र में 213 करोड़ रुपये पूंजीनिवेश वाली लगभग 16,700 इकाइयां कार्यरत हैं और ये कोई 66,000 लोगों को रोजगार देती हैं।

रेशम उद्योग, हथकरघा और चाय कुछ ऐसे उद्योग हैं जिन पर हाल में विशेष ध्यान दिया गया है। प्रतिवर्ष रेशम के लगभग एक लाख कोयों का उत्पादन होता है। इस कारण रेशम उद्योग में लगभग 2,000 लोगों को रोजगार मिला हुआ है। आशा है कि जब सामाजिक वानिकी के कार्यक्रम फलीभूत होने लगेंगे तो इस उद्योग का भी प्रसार होगा।

परंपरागत रूप से चाय का उत्पादन कांगड़ा और मंडी जिलों में 1,000 से 1,500 मीटर तक की ऊंचाई पर किया जाता है। कुल मिलाकर कोई 1,400 चाय बागान हैं जिनका क्षेत्रफल लगभग 3,300 हेक्टेयर है। इस उद्योग को बढ़ावा देने के लिए रासायनिक विश्लेषण तथा किसी कारखाने में चाय के सहकारी संसाधन की सुविधाओं के अलावा उत्पादकों को अनुदान भी दिया जा रहा है। भारतीय चाय बोर्ड को प्रदर्शन के बागान बनाने और शोधकार्य करने के लिए वित्तीय सहायता दी गयी है। छिड़काव सिंचाई की सुविधाएं जुटाने का प्रस्ताव किया गया है।

राज्य सरकार ने हिमाचल में केवल उन्हीं औद्योगिक इकाइयों को स्वीकृति देने की नीति अपनाई है जो हवा या पानी को प्रदूषित नहीं करतीं। औद्योगीकरण के दायरे को बढ़ाने के लिए अंदरूनी क्षेत्रों में स्थापित इकाइयों को सस्ती बिजली दी जाती है। जोर ऐसे उत्पादों वाली इकाइयों पर दिया जाता है जिसमें मूल्य का समावेश अधिक हो ताकि यातायात की लागत वस्तुओं की उत्पादन लागत को न बढ़ाए। दूसरे प्रोत्साहनों में सरकारी प्राथमिकता देना भी शामिल है।

हिमाचल के पास हस्तशिल्पों की एक समृद्ध धरोहर है जो आज भी जनता की बुनियादी और अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। ऊन और पशमीना के शाल, गुड़म, कालीन, चांदी और अन्य धातुओं के सामान, कढ़ाईदार चप्पलें, घास के जूते, कांगड़ा और गोंपा शैली के चित्र, लकड़ी के काम, घोड़ों के बालों की चूड़ियां, लकड़ी और धातु के बरतन और अनेक दूसरी घरेलू वस्तुएं इन हस्तशिल्पों में शामिल हैं।

वैयक्तिक प्रयास से बने और वैयक्तिकता की छाप दिखानेवाले ये सौंदर्यमय और सुरुचिपूर्ण हस्तशिल्प मशीन से बनी वस्तुओं की प्रतियोगिता के कारण और विपणन की सुविधाओं के भी अभाव में ह्रास के शिकार हुए। सौभाग्य से यह प्रवृत्ति बदल चुकी है तथा देश के अंदर बाहर हस्तशिल्प की वस्तुओं की मांग बढ़ी है।

अपने पेशों को छोड़ देनेवाले प्रतिभाशाली दस्तकारों को समझा बुझाकर और प्रोत्साहन देकर अपना कलात्मक व्यवसाय फिर शुरू करने के लिए तैयार किया गया है। पहले वे अलग थलग गांवों में अकेले काम करते थे तथा उनके पास अपनी कलात्मक और उपयोगी कृतियों के सृजन के लिए कच्चा माल नहीं होता था। रूपरेखा और विपणन की सुविधाओं के अभाव में ये घिसटते रहे तथा सफलता और बचत के साथ काम नहीं कर सके। दस्तकार अपने सामान बना सकें और उनको इतने उचित दामों पर बेच सकें कि उनके परिवारों का जीवनयापन हो सके, इसके लिए बुनियादी ढांचे को जुटाने की आवश्यकता होगी।

हिमाचल प्रदेश हस्तशिल्प निगम हस्तशिल्पों के पुनरुत्थान और पुनर्वास की योजनाएं लागू कर रहा है। कांगड़ा और गोंपा चित्रों तथा धातु की वस्तुएं जैसे समाप्तप्राय हस्तशिल्पों में प्रशिक्षण देने के लिए प्रशिक्षु योजनाओं का आरंभ किया

गया। दस्तकारों को नये डिजाइन प्रदान करने के लिए एक हस्तशिल्प रूपरेखा केंद्र स्थापित किया गया। निगम ने एक वसूली की योजना शुरू की है जिसके अंतर्गत कुशल दस्तकारों को उनके दरवाजे पर काम लाकर दिया जायेगा। उनके लिए घर घर घूमकर कच्चे मालों की आपूर्ति करने तथा तैयार वस्तुएं प्राप्त करने का काम भी किया जाता है। इन उत्पादों को निगम द्वारा संचालित एंपोरियमों की एक शृंखला के द्वारा बेचा जाता है। इन एंपोरियमों की अपनी अनेक उत्पादक इकाइयां भी हैं। परंपरागत हस्तशिल्पों के अलावा दैनंदिन उपयोग की अनेकों नयी वस्तुओं का प्रचलन भी हुआ है। इसका ध्यान रखा जाता है कि प्रबंध की आधुनिक पद्धतियों को अपनाने की दौड़ में तकनीकों को परंपरागत हस्तशिल्पों के पुनरुत्थान के कार्यक्रम से अधिक महत्व न प्राप्त हो जाये।

हिमाचल के आर्थिक विकास की कहानी अधिकतर तिब्बत की सीमा पर स्थित आदिवासी क्षेत्रों के विकास का विशेष उल्लेख किए बिना पूरी नहीं होती। किन्नौर तथा लाहुल-स्पीति के दो सरहदी जिले और चंबा जिले की पांगी और ब्रह्मौर तहसीलें राज्य के प्रमुख आदिवासी क्षेत्र हैं। इनका क्षेत्रफल कुल क्षेत्रफल का कोई 33 प्रतिशत है लेकिन जनसंख्या मात्र 4.6 प्रतिशत है। हाल तक वाहन योग्य सड़कों के अभाव में देश बल्कि हिमाचल प्रदेश के शेष भागों से भी कटे इन क्षेत्रों का जीवन सबसे अलग थलग विकसित हुआ है। अधिक ऊंचाइयों पर स्थित वादियां, जिन तक केवल ऊंचे दर्रों के द्वारा ही पहुंचा जा सकता है, और जो साल के कुछेक माह तक ही सुगम होती हैं, इन क्षेत्रों के विभिन्न भागों के लोगों के बीच भी संपर्क कठिन बनाती रही हैं। यहां भारतीय और तिब्बती संस्कृति का मिलन हुआ है तथा हिंदुत्व और लामावाद का साथ साथ अस्तित्व है। सीमा की ओर बढ़ें तो जनता पर लामावाद का अधिक गहरा और अधिक भरपूर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

रोहतांग (13,050 फुट), कुंजुम (14,913 फुट) और बड़लाइचा (14,000 फुट) जैसे ऊंचे दर्रे लाहुल-स्पीति के संपर्क के एकमात्र मार्ग हैं जबकि पांगी का रास्ता साच दर्रे (14,400 फुट) से होकर जाता है। लाहुल की उपजाऊ वादी जिसको धाराएं और नदियां जगह जगह काटती हैं, शेष सीमावर्ती क्षेत्रों के विपरीत दृश्य प्रस्तुत करती हैं जहां वर्षा बहुत कम होती है और लगभग पूरा इलाका बंजर है।

सातवें दशक के आरंभ में हिंदुस्तान तिब्बत राष्ट्रीय राजमार्ग के पूर्ण होने और उसके संपर्क मार्गों के बन जाने के बाद किन्नौर का रास्ता खुल गया। इस क्षेत्र की भूमि व्यवस्था में पर्याप्त सुधार आया है। बंटाईदार अब जमीन के मालिक बन चुके हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार इस समय 95 प्रतिशत किसान परिवार खेती की उन्नत विधियों से सुपरिचित हैं। लगभग 63 प्रतिशत क्षेत्र में खेती होती है और 44 प्रतिशत से अधिक परिवार उन्नत बीजों, रासायनिक उर्वरकों और कीड़ामार दवाओं का उपयोग करते हैं। 26 प्रतिशत परिवारों के पास किसी न किसी फल के पेड़ हैं जबकि

38 प्रतिशत के पास बाग हैं। यहां लगाये गये फलदार वृक्षों में सेब का भाग 70 प्रतिशत है।

लगभग 80 प्रतिशत परिवार कुटीर उद्योगों में लगे हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण उद्योग ऊन की कताई और बुनाई का है। जिले के शत प्रतिशत गांवों को बिजली की सुविधा प्राप्त है। 82 प्रतिशत लोगों के मकान अधपक्के हैं, 15 प्रतिशत के कच्चे हैं और शेष के मकान लकड़ी के हैं। साक्षरता की दर लगभग 38 प्रतिशत है जबकि 58 प्रतिशत बच्चे विद्यालय जाते हैं। हालांकि किन्नौर को कुल मिलाकर विभिन्न योजनाओं से लाभ हुआ है मगर विकास के लाभ पूरी तरह निचले वर्गों तक नहीं पहुंचे हैं। कारण कि परंपरागत रूप से समृद्ध वर्ग इनमें से अधिकांश लाभों को हड़प कर गये हैं।

लाहुल का रास्ता सातवें दशक के अंतिम वर्षों में खुला जब रोहतांग दर्रे से होकर वाहन योग्य सड़क बनी। इसको विकास का लाभ स्पीति से पहले मिला जिसको आठवें दशक में ही वाहन योग्य सड़क के द्वारा जोड़ा जा सका। इसके अलावा लाहुल की वादियां उपजाऊ हैं और मध्य एशिया के परंपरागत व्यापार मार्गों पर स्थित होने के कारण इसके लोग बाकी देश के संपर्क में और विकास के प्रति जागरूक रहे हैं। लेकिन लाहुल और स्पीति किन्नौर की अपेक्षा कम विकसित हैं।

स्पीति लगभग पूरी तरह एक पर्वतीय मरुस्थल है और उसका काफी कम विकास हुआ है। सिंचाई की सुविधाओं की कमी, जाड़े के अत्यंत ठंडे महीनों में मानव क्षमता का उपयोग न होने और क्षेत्र में विकास की संभावनाओं से संबद्ध आंकड़े न होने के कारण खेती की पैदावार बहुत कम है। इस कारण एक पर्वतीय मरुस्थल विकास योजना तैयार की गयी जिसे अभी हाल में शुरू किया गया है। इस योजना का प्रस्ताव है कि सिंचाई की नहरों को बड़े हिमनदों, धाराओं और नालों से जोड़ा जाये जो बड़ी संख्या में खेतों के लिए पर्याप्त जल की आपूर्ति कर सकते हैं। अब जबकि बिजली आ चुकी है, स्पीति, चंद्र और भागा नदियों के थालों में उत्थापक सिंचाई की योजनाएं आरंभ की जा रही हैं। जब सिंचाई के लाभ स्पीति वादी की अछूती भूमि को प्राप्त होंगे तो वह न सिर्फ स्थानीय उपभोग बल्कि निर्यात के लिए भी पर्याप्त अनाज और सब्जियां पैदा करेगी। यहां सदियों से पैदा होनेवाले जंगली खाद्य फलों के सुधार का काम भी शुरू किया गया है।

विकास के सिलसिले में आदिवासी क्षेत्रों को विशेष महत्व दिया गया है। आदिवासी उपयोजना के लिए राज्य की योजना का योगदान कुल आवंटन का लगभग 9 प्रतिशत है जबकि आदिवासी जनसंख्या राज्य की कुल जनसंख्या का लगभग 4.6 प्रतिशत है। प्रशासनिक देरी को कम करने और क्रियान्वयन यंत्र से तेजी से परिणाम पाने के लिए सभी आदिवासी क्षेत्रों में एक रैखिक प्रशासन स्थापित किया गया है। अभी तक इन पिछड़े और दुर्गम क्षेत्रों के हरेक गांव में बिजली पहुंच चुकी है।

योजना है कि लाहुल के लिए एक संपर्कमार्ग बनाया जाये जो सभी मौसमों में उपयुक्त हो। इस दृष्टि से सीमा सड़क संगठन ने 13,050 फुट ऊंचे रोहतांग दर्रे के नीचे से एक सुरंग बनाने की व्यावहारिकता का अध्ययन किया है।

राज्य में अनुसूचित जातियों की आबादी कोई 22 प्रतिशत है। छुआछूत खत्म करने और राज्य में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को रोजगार में 26 प्रतिशत आरक्षण देने के अलावा उनके कल्याण के कारगर प्रयास किए गए हैं। अनुसूचित जातियों से संबंधित उप योजना के आवंटन में प्रतिवर्ष औसतन 10 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों के उच्चतर माध्यमिक छात्रों को मुफ्त शिक्षा और छात्रवृत्तियां दी जाती हैं। इसके अलावा पुस्तकों, स्लेटों और कपड़ों की खरीद के लिए मौद्रिक सहायता भी दी जाती है। उनको आवासीय भूमि दी गयी है और मकानों के निर्माण पर अनुदानों के अलावा मकानों की मरम्मत के लिए धन भी दिया जाता है। उनको उदार वृद्धावस्था पेंशन भी दी जाती है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों को छोटे धंधे और उद्योग लगाने के लिए 2,000 रुपये तक का ब्याज रहित ऋण दिया जाता है।

पहाड़ी क्षेत्रों का विकास यातायात की कारगर व्यवस्था पर निर्भर है। जब सन् 1948 में हिमाचल का निर्माण हुआ तो उसकी सड़कें कुल लगभग 228 कि० मी० लंबी थीं और वे भी जगह जगह बिखरी हुई थीं। चूंकि हिमाचल में संचार के लिए रेल लाइनों का निर्माण बहुत कठिन और खर्चीला था, इसलिए पहली पंचवर्षीय योजना में सड़क निर्माण को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी। इस योजना के दौरान कुल व्यय का 50 प्रतिशत सड़कों पर लगा। सड़कों के विकास के लिए एक व्यापक योजना शुरू की गयी। पहले जीप योग्य सड़कों से कम क्षमता वाले मार्गों का पता लगाया गया और 20 फुट पीछे एक फुट का ढाल देकर उनका निर्माण किया गया। इनको आगे चलकर जीप योग्य बना दिया गया। कुछ स्थिरता आने के बाद इन जीप मार्गों को चौड़ा करके एक लेन वाला मोटर योग्य मार्ग बना दिया गया। फिर उन पर छोटी बसें दौड़ने लगीं। उसके बाद ये सड़कें कुछ समय तक यातायात के बावजूद क्षतिग्रस्त नहीं हुईं तो उनको और भी चौड़ा करके दो लेन की मोटर योग्य सड़कें बना दिया गया और उनको समुचित ढंग से पक्का और कोलतारयुक्त बनाया गया। एक के बाद एक योजना के अंतर्गत सड़कों का जाल फैलता रहा और आज राज्य में सड़कों की लंबाई 16,000 कि० मी० से अधिक है। कुछ बहुत दूर-दराज के इलाकों में रस्सियों और तारों के मार्ग भी प्रस्तावित हैं।

राज्य में कालका से शिमला और पठानकोट से जोगिंदरनगर तक नैरो गेज रेल लाइन पहले से मौजूद थी। लेकिन ब्राड गेज की रेल लाइन हिमाचल को पठानकोट के निकट एक बहुत छोटे स्टेशन कंडरोरी पर ही छूती हुई गुजरती थी। दिल्ली नांगल रेल लाइन का विस्तार करके हिमाचल को ऊना में ब्राड गेज प्रणाली

से जोड़ना केवल जनवरी 1991 में ही संभव हुआ। राज्य सरकार केंद्र पर दबाव डाल रही है कि ब्राड गेज लाइन को कालका से दो कि०मी० दूर स्थित परवानू तक बढ़ाया जाय जो हिमाचल का एक प्रमुख औद्योगिक व्यापारिक नगर है।

राज्य में दो हवाई अड्डे हैं—कुल्लू जिले में भुंटर में और शिमला के पास जुब्बरहट्टी में। इससे हिमाचल को भारत के हवाई मानचित्र में स्थान मिला है और मौसमी दशाओं की सीमा के अंतर्गत नियमित हवाई सेवाएं चलती रहती हैं। कांगड़ा जिले में गग्गल में एक और हवाई अड्डा निर्माणाधीन है तथा मंडी, हमीरपुर और चंबा में हवाई अड्डों के लिए उपयुक्त स्थानों की पहचान भी की गयी है। हेलीकाप्टरों के उतरने के लिए खासकर सीमावर्ती और आदिवासी क्षेत्रों में विभिन्न स्थानों पर हवाई पट्टियां बनाई गई हैं।

रेल और हवाई मार्ग हिमाचल की जनता की यातायात संबंधी बहुत सीमित आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकते हैं। इसलिए सड़क यातायात हिमाचल में आर्थिक सामाजिक बुनियादी ढांचे की जान है। हिमाचल का कोई 22 प्रतिशत यात्री यातायात राष्ट्रीयकृत है। हिमाचल सड़क यातायात निगम अपनी लगभग 1,400 बसों के द्वारा इस यातायात का संचालन करता है जो 1,130 मार्गों पर चलते हुए लगभग 8.40 करोड़ कि०मी० की दूरी तय करती हैं।

सड़कों के बढ़ने और अन्य विकास क्रमों के साथ राज्य में संचार-तंत्र का प्रसार हुआ है। आज हिमाचल में कोई 280 टेलीफोन् एक्सचेंज और 600 से अधिक तारघर हैं जबकि दो दशक पहले कोई 50 टेलीफोन एक्सचेंज और 300 तारघर थे।

7

पर्यटन

हिमाचल भारतीय जनमानस के लिए हमेशा ही एक रहस्यमय आकर्षण का कारण रहा है और यहां पर्यटन कोई हाल में विकसित नहीं हुआ है। इसी कारण इसे दिव्यभूमि कहा जाता है। पुराणों और संस्कृत साहित्य में इसकी महिमा गाई गई है। 'स्कंधपुराण' में कहा गया है : "वह जो हिमाचल पर चिंतन मनन करता है, भले ही वह स्वयं को उससे न बांधे, उस व्यक्ति से महान है जो सारी पूजा काशी में करता है। देवताओं के सौ युगों में भी मैं तुमसे हिमाचल की महिमा का वर्णन नहीं कर सकता। जैसे प्रभातसूर्य की किरणें ओस की बूदों को सुखा देती हैं उसी तरह मानव के पाप हिमाचल के दर्शन से धुल जाते हैं।"

हिमाचल हिमालय का पर्याय है और 'कुमारसंभव' में कालिदास ने इसे देवात्मा कहा है। एक और पौराणिक कथा हिमालय के प्रति जनता के मुग्ध आदरभाव का वर्णन करती है। अपनी विजय के बाद राजा जनम्तापी ने राजसूय यज्ञ किया जिसके समापन पर उनके गुरु वशिष्ट ने अपनी परंपरागत गुरु दक्षिणा मांगी। इस पर राजा ने उत्तर दिया, "जब मैं उत्तरकाशी* को विजय कर लूंगा तो उसे आपको सौंप दूंगा।" वशिष्ठ हिमालय के प्रति इस अपमान भाव के प्रदर्शन पर क्रुद्ध हो गए और बोले, "इस दिव्यभूमि पर किसी को कुदृष्टि डालने की छूट नहीं दी जा सकती।" इतना कहकर उन्होंने जनम्तापी को मार डाला।

यह प्रसिद्ध है कि ऋषिगण हिमाचल क्षेत्र में अपने आश्रम बनाते थे। ये आश्रम छोटे बड़े सबके लिए एकसमान ज्ञान के केंद्र होते थे। राजवंशों के बालक तथा निर्धन ब्राह्मणों और विद्वानों के पुत्र इन अनोखी संस्थाओं की ओर दौड़ते थे। हिमाचल के क्षेत्र इस प्रकार तीर्थयात्रा के केंद्र बने रहे और आज भी धार्मिक उत्साह से भरपूर हजारों लोग इन दुर्गम वादियों में स्थित मंदिरों में दर्शन करने के लिए आते हैं। लेकिन छुट्टियां बिताने के आधुनिक अर्थ में और एक उद्योग के रूप में पर्यटन का विकास उन्नीसवीं सदी में ही आरंभ हुआ जब अंग्रेजों ने मैदानों की गर्मी से घबराकर आराम और शांति के लिए हिल स्टेशन बसाने शुरू किए। आगे चलकर

---

* वर्तमान हिमाचल और उत्तरप्रदेश के पहाड़ी क्षेत्र

उन्होंने काम और रणनीति की दृष्टि से भी हिल स्टेशन बनाये।

सबाथु शिवालिक की पहाड़ियों में कालका से कोई 20 मील दूर एक छोटा गांव है। यह पहला हिल स्टेशन था जहां उन्नीसवीं सदी के आरंभ में ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंट ने रहना शुरू किया। बाद में गोरखा युद्ध के दौरान इस इलाके की छानबीन के क्रम में पोलिटिकल एजेंट मेजर केनेडी ने शामलादेवी मंदिर के पास एक 'घने जंगलदार' स्थान का पता लगाया। यहीं आगे चलकर शिमला बसाया गया।

मेजर केनेडी ने शिमला में पहला मकान सन् 1822 में बनाया। उसने सन् 1827 में गवर्नर जनरल लार्ड एम्हर्स्ट को अपने साथ रहने के लिए निमंत्रित किया। गवर्नर जनरल की यह 'शुभयात्रा' नगर के प्रसार का संकेत बन गयी। फिर यह एक ग्रीष्मकालीन आरामगाह के अलावा सतलुज नदी के पश्चिमी भाग के पहाड़ी राज्यों में सिखों की गतिविधियों की 'निगरानी चौकी' बन गई। आगे चलकर जब तिब्बत पर रूस की छाया पड़ने लगी तो गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी अपना ग्रीष्मकालीन मुख्यालय चीनी में ले गया। इसे ही अब कल्पा कहते हैं जो सीमावर्ती जिले किन्नौर का मुख्यालय है। जब एक के बाद एक गवर्नर जनरल गर्मी में ठहरने के लिए शिमला आने लगे तो उसका भी धीरे धीरे विकास हुआ। विशिष्ट अंग्रेजी नामों और रूप रेखाओं वाले मकान बनने लगे। बड़े भवन ब्रिटिश महलों की तर्ज पर बने जबकि छोटे मकान स्काटलैंड के देहाती मकानों जैसे लगते थे। अनेक चरणों से गुजरकर शिमला को भारत की ग्रीष्मकालीन राजधानी का दर्जा प्राप्त हुआ।

इसके बाद पंजाब सरकार ने भी इसे अपना ग्रीष्मकालीन मुख्यालय बनाया और शिमला समुद्रतट से 7,000 फुट ऊंचाई पर दुनिया का सबसे बड़ा हिल स्टेशन बन गया। शिमला को 4 करोड़ रुपये की लागत से कालका से नैरो गेज रेल लाइन के द्वारा जोड़ा गया जिसे उन दिनों 'पहाड़ी रेल यात्रा का आश्चर्य' कहा जाता था। शिमला में फुटबाल के मुकाबलों, घुड़दौड़ों, खेलकूद और (पगाल) जिमखाना जैसे भारी आकर्षण थे। इनमें से पहले का आयोजन सन् 1838 में लार्ड आकलैंड ने पहले अफगान युद्ध में विजय पाने के बाद किया था।

शिमला के बाद धर्मशाला, डलहौजी, दगशई और कसौली जैसे हिल स्टेशनों की एक शृंखला स्थापित की गई। शिमला और हिमालय के दक्षिणी भागों में विद्यालय भी स्थापित किए गए ताकि आंग्ल भारतीय लोगों को कनिष्ठ पदों के लिए उपयुक्त अध्यापन सुविधाएं प्राप्त हों। आगे चलकर ये ही विख्यात पब्लिक स्कूल बने। हालांकि पूरे हिमालय बल्कि छोटी पर्वतश्रेणियों में भी हिल स्टेशन बनाए गए मगर गरिमा में कोई भी शिमला से आगे न जा सका जो राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की आयोजनस्थली थी। आज भी शिमला का अच्छा खासा ब्रिटिश चरित्र है तथा उसके अधिकांश घरों, उपनगरों और सड़कों के अंग्रेजी नाम हैं।

सन् 1947 में अंग्रेजों की विदाई के बाद शिमला के बुरे दिन आये। कुछ वर्षों तक यह नगर विभाजित पंजाब की सरकार का मुख्यालय रहा। लेकिन सन् 1953 में जब पंजाब सरकार ने चंडीगढ़ को अपनी राजधानी बना लिया तो यह राज्य का एक पिछड़ा जिला ही बनकर रह गया। सन् 1966 में हिमाचल में एकीकरण के बाद शिमला को नवजीवन प्राप्त हुआ। भवन निर्माण की सन् 1936 से ही ठप्प पड़ी गतिविधियां फिर शुरू हुईं। हर तरफ कोई 40 मील फैलाव वाले एक पर्यटन संकुल केंद्र के रूप में उसकी पर्यटन क्षमता को विकसित करने के प्रयास किए गए।

शिमला एक पहाड़ी पर फैला हुआ है जो कोई 12 वर्ग कि०मी० क्षेत्र में है। इस अर्धचंद्राकार पहाड़ी से निकली पहाड़ियों पर इसके उपनगर बसे हैं। इसके पड़ोस में सरसराते जंगलों के बीच छायादार पगडंडियां और टेढ़े मेढ़े रास्ते हैं, जो हर मोड़ पर चित्ताकर्षक दृश्य दिखाते हैं। पहाड़ी के विशालकाय समतल भाग में माल है जो शाम को घूमने की मनमोहक जगह है। यह एक आधुनिक व्यावसायिक केंद्र और गपशप का अड्डा भी है।

शिमला का दृश्य मौसमों के साथ बदलता रहता है और हर मौसम का अपना आकर्षण है। साल का सबसे अच्छा मौसम संभवतः शरद है लेकिन वसंत का आरंभ भी इससे कुछ ही कम है। इन मौसमों में हवा सबसे अधिक ताजगी भरी होती है। दिन हल्के गर्म और चमकदार होते हैं और रातें स्फूर्तिदायक, साफ और ठंडी होती हैं। शरद यात्रियों का स्वागत सुशांत समचित्तता से और वसंत फूलों से करता है। यहां जाड़े को 'लंबी चांदनी रातों' के मौसम के रूप में जाना जाता है। तब शिमला बर्फ से ढका खामोश शहर बन जाता है।

हर साल दो लाख से अधिक यात्री हिमाचल की यात्रा करते हैं। इसकी स्थायी बर्फ, काले जंगल, फूटते झरने, गुनगुनाती धारें, गरजती नदियां, सुरम्य झीलें, हरी भरी वादियां और चरागाह—ये ऐसे आकर्षण हैं कि व्यक्ति अपने को रोक नहीं पाता। पहाड़ी आरामगाहों की विशिष्ट शांति और आराम के अलावा ये इलाके स्की के शौकीनों, जोड़े के खेल खेलनेवालों, हाइकिंग और पर्वतारोहण करनेवालों को नये प्रकार के दुस्साहस करने की प्रेरणा देते हैं। इस पर्यटन क्षमता के उपयोग के लिए अन्य स्थानों के अलावा दो महत्वपूर्ण पर्यटन संकुल [शिमला चैल और कुल्लू मनाली भी विकसित किए जा रहे हैं। शिमला चैल पर्यटन] संकुल केंद्रबिंदु शिमला के कोई 40 मील के घेरे में फैला हुआ है। इसमें कुफ्री, चैल, फागू, नारकंडा, मशोबरा, नालडेरा और अन्य स्थान आ जाते हैं।

भूतपूर्व पटियाला रियासत का ग्रीष्मकालीन मुख्यालय चैल (ऊंचाई 2,150 मीटर) शिमला से कोई 45 मील दूर बसा है और यहीं दुनिया का सबसे ऊंचा क्रिकेट मैदान है। महाराजा के महल में अब समृद्धजन के लिए एक होटल है जिसे शिमला पर्यटन विकास निगम चलाता है। यह छोटा नगर घने जंगलों के बीच में है जहां

सुंदर पगडंडियां हैं। इसे आधुनिक सुविधाओं के साथ विकसित किया जा रहा है। यह कुफ्री और इंदिरा रेस्ट हाउस से होते हुए कंडाघाट और शिमला से जुड़ा हुआ है।

शिमला से 16 कि॰मी॰ दूर स्थित कुफ्री अपने स्की मार्गों और केंद्रीय आलू अनुसंधान संस्थान के बीज आलू के फार्म के कारण भारत के खेलकूद और पर्यटन मानचित्रों में पहले ही अपना स्थान बना चुका है। बस सेवा से अच्छी तरह जुड़े कुफ्री में अति उत्तम प्रकार की छायादार पगडंडियां हैं जो अंजीर के ऊंचे पेड़ों के बीच से गुजरती हैं। स्की की ढाल से मात्र तीन कि॰मी॰ पर प्रसिद्ध यात्री होटल वाइल्ड फ्लावर हाल स्थित है जो बीसवीं सदी के आरंभ में भारत के सर्वोच्च सेनापति लार्ड किचनर का आवास था। वाइल्ड फ्लावर हाल से कोई एक कि॰मी॰ दूरी पर रिट्रीट है जो लार्ड कर्जन का सप्ताहांत का आराम घर था। वाइल्ड फ्लावर हाल और रिट्रीट के बीच हेम कुंज (पुराना नाम : डेन्स फोली) है जो पंजाब के गवर्नर का ग्रीष्मावकाशकालीन आराम घर था। इन सब में लंबे चौड़े लान, बड़े बड़े बाग हैं और पहाड़ों तथा बर्फ को यहां से देखा जा सकता है।

नारकंडा तक शिमला से पहुंचा जा सकता है। बीच में 64 कि॰मी॰ तक सुरम्य दृश्य दिखाई देते हैं तथा हिंदुस्तान तिब्बत मार्ग पर कुफ्री, फागू और मटियाना की वादियां आती हैं। यहां से स्थायी हिमरेखा का मनमोहक दृश्य देखा जा सकता है। नारकंडा एक तरफ थानेदार कोटगढ़, दूसरी तरफ लूरी होकर कुल्लू के सेब उत्पादक क्षेत्रों तक तथा बागी (2,700 मीटर) और खडराला (3,300 मीटर) के शांत स्थलों तक पहुंचने के लिए विश्रामस्थल का काम करता है। पास में स्थित हट्टू पीक (3,300 मीटर) हाइकिंग के लिए तथा अपनी स्थायी हिमरेखा के अद्‌भुत दृश्य, बीज आलू उगानेवाले उपजाऊ क्षेत्रों और घने जंगलों के कारण अत्यंत लोकप्रिय है। फिर यहां छोटे बड़े खेल भी चलते हैं।

मशोबरा और नालडेरा नामक लोकप्रिय पिकनिक स्थल तत्ता पानी के रास्ते पर शिमला से क्रमशः 12 और 20 कि॰मी॰ दूर स्थित हैं। ये स्थल अपने गर्म झरने के लिए विख्यात हैं। मशोबरा अपने सुरम्य दृश्यों और घने जंगलों के द्वारा पर्यटकों को आकर्षित करता है जबकि नालडेरा अपने नौ छेदों वाले गोल्फ के मैदान के लिए प्रसिद्ध है।

ट्राउट के शिकार के लिए प्रसिद्ध रोहरू, मंदिरों के लिए विख्यात हाटकोटी, रामपुर का व्यापारिक केंद्र और सराहन का तीर्थकेंद्र जहां भीमाकाली का मंदिर स्थित है, शिमला जिले के अन्य पर्यटनस्थल हैं।

कुल्लू मनाली पर्यटन संकुल पूरी कुल्लू वादी में फैला हुआ है, जो अतिसुंदर दृश्यावलियों से भरी पड़ी है। यह बर्फदार चोटियों, बहते पानी, गुनगुनाते बागों और जगमगाते चरागाहों का अद्‌भुत मिला जुला दृश्य प्रस्तुत करती है। मौसम बदलने पर वादी का रंगरूप भी परिवर्तित हो जाता है।

कुल्लू की वादी में सबसे सुहाना मौसम वसंत का होता है, जब खुबानी के लहलहाते फूलों से लदे वृक्ष पत्तियों से रहित गुलदस्तों की सुंदर कतारों जैसे लगते हैं। इसी के आसपास चेरी और आड़ू के फूटते हुए फूल पहाड़ियों पर रंगों की वर्षा कर देते हैं। आगे चलकर शरद के दौरान जब आसमान साफ और नीला होता है, मैदान और जंगल अंजीर और देवदार की सदाबहार हरियाली में बुने हुए लाल और पीले रंगों का अविस्मरणीय दृश्य प्रस्तुत करते हैं। जाड़े में पहाड़ों पर जमी बर्फ पर धूप की चकाचौंध वादी को अपनी सुरम्यता से भर देती है।

व्यास नदी के तट पर स्थित कुल्लू इस पर्यटन संकुल का केंद्र है। यह नगर इसी नाम से जिले का मुख्यालय है। यहां वह घास का लंबा चौड़ा मैदान (ढालपुर) है जहां कुल्लू के प्रसिद्ध दशहरे तथा अन्य सामाजिक सांस्कृतिक उत्सवों का आयोजन किया जाता है। चंडीगढ़ से हवाई मार्ग से जुड़ा कुल्लू अपने मंदिरों और अपनी वास्तुकला के लिए विख्यात है। कुल्लू से कोई 25 कि॰मी॰ दूर नग्गर का प्राचीन नगर है जो पहले राज्य की राजधानी था। यह अपने महल और रियोरिच संग्रहालय के लिए विख्यात है। नग्गर-मनाली मार्ग पर जिले का सबसे बड़ा गांव जगतसुख स्थित है, जो अपनी वार्षिक चचोली यात्रा के लिए प्रसिद्ध है। कटरैन का शांतिपूर्ण पर्यटनस्थल ट्राउट के शिकार के लिए विख्यात है जबकि वशिष्ठ और मणिकर्ण अपने गर्म झरनों के लिए प्रसिद्ध हैं।

अपनी अछूती दृश्यावलियों के कारण मनाली पर्यटकों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय है। यहां जंगलों के बीच बने लकड़ी के केबिन संभवतः देश भर में सबसे सुंदर दृश्य प्रस्तुत करते हैं। आदर्श पगडंडियों, चढ़ाइयों और पैदल यात्रा के मार्गों के कारण राज्य का पर्वतारोहण संस्थान यहीं बनाया गया है। मनाली लाहुल के लिए व्यापार केंद्र का काम करती है और देवी हिडिम्बा को समर्पित ढूंगरी मंदिर के लिए भी विख्यात है। विशिष्ट देसी शैली में बने इस मंदिर में चार तहों वाली, पगौडा आकार की छत है।

दूध और शहद की वादी चंबा अपने घाटों, चरागाहों, मंदिरों, चित्रों, 'रूमाल' और खजियर झील के लिए विख्यात है। यह झील तश्तरी के आकार की एक हरी भरी पहाड़ी पर स्थित है और इसमें एक तैरता हुआ टापू है। धौलाधार श्रेणी की बाहरी ढालों पर स्थित डलहौजी जिले का एक और महत्वपूर्ण पहाड़ी पर्यटनस्थल है। यह चीड़ और ओक के भव्य वृक्षों वाले घने जंगलों से सुसज्जित है और इसके चारों तरफ मनोहारी पिकनिक स्थल हैं। अपने मंदिरों के लिए प्रसिद्ध ब्रह्मौर, सलोनी और भंडाल दूसरे पर्यटनस्थल हैं।

कांगड़ा जिले के महत्वपूर्ण पर्यटनकेंद्रों में धर्मशाला, पालमपुर, बैजनाथ, कांगड़ा और ज्वालामुखी शामिल हैं। धर्मशाला धौलाधार की तलहटी में स्थित है और यहां से बर्फ से ढकी चोटियों के सुंदर दृश्य दिखाई देते हैं। पास में ही भाग्सूनाथ के

जलप्रपात हैं और डल झील है, जो सितंबर में गद्दियों के वार्षिक मेले के आयोजन के लिए प्रसिद्ध है। दलाई लामा का मुख्यालय धर्मशाला में ही है। पालमपुर अपनी स्वास्थ्यप्रद जलवायु और चाय बागानों के लिए प्रसिद्ध है। बैजनाथ अपने प्राचीन मंदिर के लिए विख्यात एक पहाड़ी विश्रामस्थल है। कांगड़ा और ज्वालामुखी में साल में दो बार नवरात्रि के दौरान आयोजित मेलों में लाखों तीर्थयात्री आते हैं।

मंडी के प्रमुख पर्यटनस्थल मंडी नगर, जोगिंदरनगर, बरोट, सुंदरनगर, झंझेली, प्राशर और रिवालसर हैं। व्यास के तट पर स्थित मंडी में मंदिरों की भरमार है। जोगिंदरनगर की जलवायु उत्तम है और यह अपनी पनबिजली परियोजना के लिए विख्यात है। जोगिंदरनगर से 20 कि॰मी॰ पर बरोट स्थित है जहां पनबिजली के काम की एक सुरम्य झील है और पास में ही ट्राउट का शिकार किया जा सकता है। उपजाऊ बाल्ह वादी के ऊपरी किनारे पर बसा सुंदरनगर सुखदेव वाटिका, महामाया मंदिर तथा व्यास सतलुज संपर्क परियोजना के कारण बड़ी संख्या में पर्यटकों को आकर्षित करता है। इस परियोजना का मुख्यालय यहीं स्थापित है।

मंडी से 67 कि॰मी॰ दूर स्थित झंझेली अपने शांत मार्गों के कारण हाइकिंग के शौकीनों के लिए स्वर्ग समान है! मंडी से कोई 25 कि॰मी॰ दूर स्थित रिवालसर झील बौद्धों, हिंदुओं और सिखों के लिए एक समान पवित्र है। कहते हैं कि तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए जाने से पहले पद्मसंभव ने यहां लंबी तपस्या की थी। यहां उनका एक मंदिर है, जहां भारत भर से हजारों बौद्ध आते हैं। पहले तिब्बत तक से भी श्रद्धालु यहां आते थे। गुरु गोविंदसिंह भी एक बार रिवालसर में ठहरे थे। प्राशर में जिले की एक और पवित्र झील (ऊंचाई : 2,800 मीटर) है। विलासपुर जिले में नंदादेवी में हर साल हजारों तीर्थयात्री आते हैं। पर्यटक बड़ी संख्या में सिरमौर जिले की रेणुका झील और पौंटा साहब की यात्रा भी करते हैं।

पर्वतीय दृश्यों की भव्यता और निर्जन गरिमा से युक्त बर्फीले शिखरों के सिलसिले में किन्नौर, लाहुल और स्पीति वादियों का कोई जवाब नहीं है। अभिभूत करनेवाली पर्वतश्रेणियों की निकटता दर्शक पर शक्ति और रहस्य की छाप छोड़ती है। इसके अलावा सांस्कृतिक दृष्टि से इन जिलों के अपने सुंदर दृश्य हैं। यहां हिंदुत्व और लामावाद अभिन्न रूप से मिल जुल गये हैं। हिंदुत्व का प्रभाव मध्यवर्ती हिमालय के मठों में दिखाई देता है जिनमें से अधिकांश का निर्माण ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में हुआ था। ये मठ शिक्षा और सौंदर्यानुभूति के प्रमुख स्रोत हैं। लाहुल के मुख्यालय केलांग, स्पीति के मुख्यालय काजा, किन्नौर के मुख्यालय कल्पा तथा इन जिलों के नीचर, चौल्टू, सांगला, पांगी और जांगी गांवों को भी धीरे धीरे पर्यटनस्थलों के रूप में विकसित किया जा रहा है।

पर्यटन में एक प्रमुख उद्योग और आय का स्रोत बनने की क्षमता है। पर्यटन विकास निगम और सड़क यातायात निगम जैसे राजकीय उद्यमों को होनेवाले प्रत्यक्ष

वित्तीय लाभों के अलावा यह स्थानीय हस्तशिल्पों को भी भारी बढ़ावा दे सकती है।

राज्य सरकार ने पर्यटन को एक उद्योग घोषित कर रखा है। राष्ट्रीय या राजकीय राजमार्गों पर होटल बनाने और ढाबों के सुधार के लिए अनुदान और ऋण दिए जाते हैं। फलस्वरूप महत्वपूर्ण पर्यटनस्थलों पर होटल उद्योग का तीव्र विकास हुआ है। सड़कों के किनारे विश्रामगृह, रेस्तरां और कैफेटेरिया बनाकर राजकीय पर्यटन विकास निगम ने राजमार्गों पर पर्यटन को विकसित किया है। इससे राज्य में उपलब्ध पर्यटन सुविधाओं में वृद्धि हुई है। पर्यटन विकास निगम ने महत्वपूर्ण केंद्रों में पर्यटकों के लिए होटल खोले हैं और अब उनके लिये अतिरिक्त आवास बनाने की दृष्टि से गेस्ट हाउस बनाने के लिए ऋण देने का प्रस्ताव किया गया है।

पर्वतारोहण, बर्फ पर स्कीइंग, बर्फ पर स्केटिंग, पानी के खेल, हाइकिंग, ट्रेकिंग और हैड ग्लाइडिंग उद्यमी पर्यटकों और स्थानीय युवकों को आकर्षित करने के लिए कुछ साधन हैं। पर्यटन निगम इनके लिए उपयुक्त स्थानों का विकास कर रहा है। अब वह स्थान दर्शन यात्राओं के लिए लक्जरी बसें भी चला रहा है। तीर्थयात्रा पर्यटन को विकसित करने पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है क्योंकि हिमाचल प्रदेश में अनेक धार्मिक स्थान पाये जाते हैं।

8

प्रशासन एवं लोक कल्याण

हिमाचल प्रदेश के निर्माण के बाद विभिन्न आकारों और व्यवस्थाओं वाली कोई 31 भूतपूर्व रियासतों की सेवाओं का एकीकरण और पुनर्गठन करना प्रशासन के सामने पहला कार्यभार था। कुछ रियासतें तो आकार और संसाधनों की दृष्टि से बहुत छोटी थीं और उनमें नाममात्र को भी प्रशासन नहीं पाया जाता था। कुछ ही रियासतों के प्रशासनतंत्र में किसी न किसी प्रकार का संगठन नजर आता था। अधिकारीगण अधिकतर पंजाब के होते थे या 'अच्छे संबंधों वाले' लोग होते थे। एकीकरण से ठीक पहले कुछ शासकों ने समय की हवा को देखकर शीघ्रता में अपने लोग, उनकी योग्यताओं को ध्यान रखे बिना, नियुक्त कर लिए।

मालगुजारी के समुचित कागजात उपलब्ध न थे। विभिन्न रियासतों के कानून और प्रशासनिक तौर तरीके अलग अलग थे। वेतनमान और सेवाओं के वर्गीकरण भिन्न भिन्न थे।

समस्या केवल सेवाओं के एकीकरण की नहीं बल्कि काम का एकसमान ढर्रा लागू करने और उसका मानदंड ऊंचा करने की भी थी। आरंभ में केवल मुख्य आयुक्त और उप मुख्य आयुक्त ही अखिल भारतीय सेवाओं के लिए जाते थे; कोई आधा दर्जन अधिकारी पंजाब सिविल सेवा के लिए जाते थे जबकि एकीकृत रियासतों से आए विभिन्न कर्मचारियों को प्रशासन के ढांचे में खपा दिया जाता था। परिणाम यह हुआ कि वरिष्ठ अधिकारियों का अधिकांश समय प्रशासन की प्रकृति में सुधार करने के बजाय छोटे अधिकारियों के, सेवा की दशाओं संबंधी, प्रार्थनापत्रों को निपटाने में निकल जाता था। विभिन्न रियासतों से मिली सेवाओं में संकीर्ण निष्ठाओं की उपस्थिति एक और समस्या का कारण थी।

जब सन् 1952 में हिमाचल प्रदेश को एक उपराज्यपाल, एक विधानसभा और एक लोकप्रिय मंत्रिमंडल से युक्त, भाग 'स' राज्य बनाया गया तो प्रशासनिक एकीकरण का कार्य केवल आंशिक रूप से ही संपन्न हुआ। सन् 1954 में विलासपुर का भाग 'स' राज्य हिमाचल में मिला दिया गया तो दो प्रकार की सेवाओं के एकीकरण की समस्या फिर उठी। यह समस्या अभी मुश्किल से ही हल हुई थी कि राज्य पुनर्गठन कानून के अंतर्गत हिमाचल को नवंबर, 1956 में एक उपराज्यपाल के अंतर्गत संघीय

क्षेत्र बना दिया गया। विद्यालय स्तर तक शिक्षा, जिला स्तर तक चिकित्सा सेवाओं और पशुपालन तथा ग्रामीण सड़कों जैसे हस्तांतरित विषयों को निपटाने के लिए एक क्षेत्रीय परिषद् गठित की गयी तो कुछ प्रशासनिक कार्य दोनों के अंतर्गत आ गये और फलस्वरूप सेवाकर्मियों की संख्या बढ़ी। जब सन् 1963 में हिमाचल में लोकतांत्रिक व्यवस्था फिर स्थापित हुई तो प्रशासन की और क्षेत्रीय परिषद् की सेवाओं का विलय करना पड़ा। इस प्रकार उनके पुनर्गठन और एकीकरण का तीसरा चरण अपनी सभी समस्याओं के साथ आरंभ हुआ।

जब नवंबर, 1966 में पंजाब का पुनर्गठन किया गया तो पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र और उसके कोई 8 प्रतिशत कर्मचारी हिमाचल को हंस्तातरित कर दिए गए। अब विभिन्न वेतनमानों और काम की दशाओं वाली सेवाओं का पुनर्गठन और एकीकरण सबसे कठिन समस्या बनकर सामने आया। पंजाब पुनर्गठन कानून की व्यवस्था थी कि एकीकरण से प्रभावित कर्मचारियों की सेवा की दशाओं पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। संघीय क्षेत्र होने के नाते हिमाचल ऐसी एकरसता लाने के लिए कुछ विशेष काम नहीं कर सकता था। इससे कठिनाइयां पैदा हुईं। लेकिन इनमें से अधिकांश समस्याएं धीरे धीरे और केंद्र सरकार की सहायता से हल कर ली गईं।

सन् 1971 में राज्य बनने के बाद हिमाचल को भारतीय प्रशासनिक सेवा और राज्य प्रशासनिक सेवा से अपने कर्मचारी मिले और उसका अपना लोक सेवा आयोग स्थापित हुआ। यह 23 वर्षों में सेवाओं का पांचवां पुनर्गठन था। सेवाओं की लगातार वृद्धि और उनके बार बार के पुनर्गठन के कारण उनकी संख्या में भारी वृद्धि हुई।

हिमाचल में सन् 1951 में केवल 50 राजपत्रित और लगभग 3,000 अराजपत्रित नियमित कर्मचारी थे। सन् 1973 तक उनकी संख्या के बढ़ने से 1,500 राजपत्रित, 64,000 अराजपत्रित, 5,000 आकस्मिक भुगतान वाले और लगभग 78,000 दैनिक भुगतान वाले कर्मचारी कार्यरत थे। मार्च, 1987 की कर्मचारी जनगणना के अनुसार राजपत्रित कर्मचारियों की संख्या 5,634, नियमित अराजपत्रित कर्मचारियों की 1,01,395, आकस्मिक भुगतान पानेवालों की 5,971 और दैनिक वेतनभोगी कर्मचारियों की 86,753 हो चुकी थी। कर्मचारियों की कुल संख्या लगभग 1.90 लाख है। इस तरह राज्य की लगभग 4.5 प्रतिशत जनता सरकारी सेवाओं में लगी है। यह जनसंख्या अनुपात देश के किसी भी अन्य राज्य से अधिक है।

अगर हम यह मान लें कि औसतन एक राजकीय कर्मचारी पर पांच व्यक्तियों का परिवार निर्भर है तो राज्य की लगभग 22 प्रतिशत जनता सरकारी खजाने से प्राप्त वेतनों पर जीती है। यही कारण है कि हिमाचल में कर्मचारियों को पर्याप्त राजनीतिक प्रभाव प्राप्त है। फलस्वरूप उत्तरोत्तर सभी राज्य सरकारों ने उनको अनेक रियायतें दी हैं और अब वे देश के किसी भी अन्य राज्य के कर्मचारियों से अधिक

वेतन पाते है। पंजाब के ढर्रे पर मिलनेवाले वेतनमानों और मंहगाई भत्ते के अलावा उनको ग्रामीण स्तर तक मकान का किराया भी दिया जाता है। यह रियायत किसी और राज्य में प्राप्त नहीं है। शिमला में कार्यरत कर्मचारियों को राजधानी भत्ता दिया जाता है। पूरक भत्ते की दर बढ़ाकर अधिकतम 650 रुपये तक कर दी गई है।

राज्य में नौकरशाही के फलने फूलने और कर्मचारियों को अधिकतम पारिश्रमिक दिए जाने के कारण हिमाचल की वित्त व्यवस्था पर भारी दबाव पड़ा है। राज्य के कुल राजस्व का कोई 45 प्रतिशत भाग उसके कर्मचारियों पर व्यय होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मैदानों के घनी आबादी वाले इलाकों की अपेक्षा इस लंबे-चौड़े मगर कम आबाद और अल्पविकसित क्षेत्र पर प्रशासन की अधिक लागत आयेगी। लेकिन अब इसका बोझ महसूस किया जाने लगा है और राज्य सरकार स्थिति से निबटने के लिए एक बचत योजना तैयार कर रही है।

न्यायपालिका का विकास भी अनेक चरणों से गुजरा है। भूतपूर्व रियासतों में कोई स्वतंत्र न्यायपालिका नहीं होती थी। हिमाचल की स्थापना के बाद न्यायपालिका के प्रमुख के रूप में एक न्याय आयुक्त की नियुक्ति की गयी जिसे उच्च न्यायालय के अधिकार प्राप्त थे। इसके निचले दर्जे के कर्मिक भूतपूर्व रियासतों के न्यायाधीशों और मजिस्ट्रेटों में से लिए गए थे। न्यायपालिका और कार्यपालिका अलग अलग नहीं थीं। एक पीठ वाला यह उच्च न्यायालय सन् 1966 तक काम करता रहा, जब पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों के मिल जाने से हिमाचल प्रदेश का विस्तार हुआ। तब न्यायालय आयुक्त की अदालत के स्थान पर दिल्ली और हिमाचल उच्च न्यायालय की स्थापना की गयी, जिसकी दिल्ली और शिमला में एक एक खंडपीठ थी। न्यायपालिका और कार्यपालिका में भी अलगाव किया गया। सन् 1971 में हिमाचल प्रदेश के एक राज्य बनने के बाद उसे तीन सदस्यीय उच्च न्यायालय प्राप्त हुआ। आज इसमें सात न्यायाधीश हैं।

क्षेत्रों के बार बार के विलय के कारण कानूनों के एकीकरण में भी कठिन समस्याएं आईं। इनमें सबसे तीखी समस्या तब उठी जब सन् 1966 में पंजाब के पहाड़ी इलाकों का एकीकरण हुआ। ये नये क्षेत्र आकार और आबादी में भी पुराने हिमाचल प्रदेश से जरा से बड़े थे। पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों में प्रचलित भूमि कानून, दूसरे कानून तथा विभिन्न नियम कायदे पुराने हिमाचल क्षेत्र से बहुत अधिक भिन्न थे। इनके एकीकरण में सरकार को कुछ वर्ष लग गये।

हिमाचल का आरंभ एक मुख्य आयुक्त के प्रांत से हुआ था। सन् 1952 में यह भाग 'स' का राज्य बना और उसकी जनता ने पहली बार बालिग मताधिकार के आधार पर लोकसभा और विधानसभा के चुनावों में भाग लिया। तब विधानसभा में 36 निर्वाचित सदस्य थे। कांग्रेस को सीटों का बहुमत मिला और उसके नेता डा० वाई०एस० परमार मुख्यमंत्री बने। उन्होंने दो अन्य कैबिनेट मंत्रियों के साथ

राज्य का शासन चलाया। सन् 1954 में हिमाचल में विलासपुर का विलय कर दिया गया और विधानसभा में पांच और सदस्य जुड़े जिससे उनकी संख्या 41 हो गयी। सन् 1956 में विधानसभा भंग कर दी गयी और हिमाचल को एक संघीय क्षेत्र बनाया गया। सात साल बाद सन् 1963 में लोकतांत्रिक व्यवस्था फिर से स्थापित हुई और क्षेत्रीय परिषद् को विधानसभा में परिवर्तित कर दिया गया। पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों के विलय के साथ विधानसभा की सदस्य संख्या बढ़कर 63 हो गयी। हिमाचल के राज्य बनने के बाद उसकी विधानसभा की सदस्य संख्या और बढ़ाकर 68 कर दी गयी। सन् 1972 के चुनावों में पिछले चुनावों की तरह कांग्रेस 55 सीटें जीतकर बहुमत में आई। सन् 1977 में 54 सदस्यों के साथ जनता पार्टी सत्ता में आई। कांग्रेस को सन् 1980 में दोबारा सत्ता मिली और वह फरवरी सन् 1989 तक सत्ता में बनी रही जब उसे भारतीय जनता पार्टी ने पराजित किया।

हिमाचल प्रदेश में एक समुचित आधार पर पंचायती राज संस्थाओं की स्थापना सन् 1953 में पहले लोकप्रिय मंत्रिमंडल के काल में आरंभ हुई। आगे चलकर कोई 600 ग्राम पंचायतें और इतनी ही न्याय पंचायतें स्थापित की गईं। पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रों के विलय तक यह संस्था लगभग स्थिर रही। फिर ग्राम पंचायतों की संख्या बढ़कर 1,900 के आसपास हो गयी जबकि न्याय पंचायतों की संख्या उतनी ही रही क्योंकि नवएकीकृत क्षेत्रों में ऐसी संस्थाएं नहीं थीं। सन् 1972-73 में ग्राम पंचायतों के आम चुनावों के बाद 2,038 ग्राम पंचायतें और इतनी ही न्याय पंचायतें स्थापित हुईं। पंचायत समितियों (प्रत्येक प्रखंड के लिए एक) की संख्या 69 और जिला परिषदों की 12 थी। अब ग्राम पंचायतों की संख्या बढ़कर 2,597 हो चुकी है। ग्रामीण क्षेत्रों के विकास में उनका अच्छा खासा योगदान रहा है।

सामाजिक सेवाएं

हिमाचल की स्थापना के समय शायद ही नाममात्र को जनस्वास्थ्य संस्थाओं का अस्तित्व रहा हो। पिछले 40 वर्षों में रोकथाम और उपचार, दोनों से संबंधित जनस्वास्थ्य सुविधाओं में बेपनाह वृद्धि हुई है। सन् 1989 में जनस्वास्थ्य संस्थाओं की संख्या 899 थी। इनमें एक राजकीय अस्पताल, 12 जिला अस्पताल, 185 प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र तथा साथ में अनेक एलोपैथिक एवं आयुर्वेदिक दवाखाने और विशेषीकृत चिकित्सा संस्थाएं शामिल हैं। डाक्टरों की कमी पूरी करने के लिए सन् 1967 में एक मेडिकल कालेज ने भी काम करना शुरू किया। आज इसमें कुछ शाखाओं में स्नातकोत्तर अध्यापन की सुविधाएं भी उपलब्ध हैं।

विभिन्न जनस्वास्थ्य कार्यक्रमों के कारण मृत्युदर में 70 प्रतिशत कमी आई है। गुप्त रोगों के मामले सन् 1951 के लगभग 17 प्रतिशत से घटकर सन् 1989 में 2 प्रतिशत रह गये। मलेरिया और चेचक का उन्मूलन हो चुका है। क्षय नियंत्रण

कार्यक्रम को भारी सफलता मिली है। ग्रामीण जनता की बहुलता के बावजूद लोगों ने बड़े उत्साह से परिवार नियोजन कार्यक्रम को अपनाया है। इसकी दिलचस्प विशेषता यह है कि इनको स्वीकार करने में स्त्रियां पुरुषों से आगे रही हैं।

सन् 1948 में लगभग 200 शिक्षा संस्थाएं थीं जिनमें अधिकांश प्राथमिक विद्यालय थे। इसके विपरित सन् 1989 में राज्य में 9,112 शिक्षा संस्थाएं थीं। इनमें 38 कालेज, 932 उच्चतर माध्यमिक और हाईस्कूल, 1,068 मिडिल स्कूल और 7,074 प्राथमिक विद्यालय सम्मिलित हैं। इन संस्थाओं का कुल नामांकन लगभग 11.22 लाख अर्थात् राज्य की पूरी जनसंख्या का कोई 20 प्रतिशत है। साक्षरता की दर सन् 1951 में मात्र 6.7 और सन् 1971 में 31.32 प्रतिशत थी जो सन् 1989 तक बढ़कर 42.48 हो चुकी थी। सन् 1991 में यह दर 63.54 थी। राज्य में पहला विश्वविद्यालय सन् 1971 में स्थापित हुआ। उसके बाद पालमपुर और सोलन में दो और विश्वविद्यालय खोले गये। ये क्रमशः कृषि के तथा बागवानी और वानिकी के लिए हैं।

पीने के पानी की आपूर्ति हिमाचल में एक बड़ी समस्या है। ऊंचे पहाड़ी इलाकों के कारण कुंओं के अभाव में पीने का पानी मुख्यतः झरनों और धारों से मिलता है। अस्वच्छ होने के कारण यह प्रदूषण फैलाता है और पहाड़ी पेचिश जैसी बीमारियां पैदा करता है। गांवों के कम आबाद और दूर दूर बसे होने के कारण पीने के साफ पानी की व्यवस्था ऊंची लागत की समस्या पैदा करती है। सन् 1948 में चार नगरों को छोड़ हिमाचल की किसी भी बस्ती में पाइपों के जरिये पीने का पानी नहीं आता था। सन् 1989 तक लगभग 15,000 गांवों में पाइपों के द्वारा पीने का पानी उपलब्ध कराया जा रहा था। इससे कोई 75 प्रतिशत जनता लाभान्वित होती है।

हिमाचल उन विशिष्ट उदाहरणों में एक है जिनमें निचले स्तर के सामंतवाद से लोकतंत्र में छोटे पहाड़ी क्षेत्र से शुरू करके आकार में पंजाब, हरियाणा और केरल से भी बड़े राज्य में, तथा देश के सबसे पिछड़े भाग का एक उन्नत राज्य में तीव्र रूपांतरण हुआ है। आज प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से देश के राज्यों में इसका स्थान चौथा है।

पांचवें दशक के अंतिम और छठे दशक के आरंभिक वर्षों के शैशव के कष्टों को पार करके हिमाचल छठे दशक के मध्य तक अपने अनिश्चय से भरे बचपन को पार कर चुका था। उसके बाद सातवें दशक में उसकी किशोरावस्था ने रंग दिखाया, फिर आठवें दशक में वह विश्वास के साथ युवावस्था को पहुंचा और नवें दशक में परिपक्वता की अवस्था में आया। उसके पास गर्व के योग्य एक प्रभावशाली कीर्तिमान है और आगे विकास की व्यापक संभावनाएं हैं। उसकी सुस्थापित शिक्षाप्रणाली, लगभग आत्मनिर्भर कृषि, देश विदेश में ख्याति प्राप्त करनेवाली बागवानी, पहाड़ों

की उत्तम सड़क व्यवस्था, औद्योगिक विकास के लिए सुनियोजित बुनियादी ढांचे, उसके समृद्ध जंगलों की वृद्धि, और सबसे बढ़कर उसके पनबिजली संसाधनों के उपयोग पर पूरे राष्ट्र का बढ़ता हुआ ध्यान—ये सब उसके उज्जवल भविष्य की जमानतें हैं। यह देश के पहाड़ी क्षेत्रों के विकास के सिलसिले में पहले ही एक आदर्श का रूप ले चुका है।

अनुक्रमणिका